मिलानके श्लोक, यथा—'**तामादाय ततो विष्णुः राजरूपधरः प्रभुः। अन्तर्धानमगात्सद्यस्स्वस्थानं प्रययौ किल॥ सर्वे राजकुमाराश्च निराशाः श्रीमतीं प्रति। मुनिस्तु विह्वलोऽतीव बभूव मदनातुरः॥**' (५१-५२) अर्थात् विष्णुभगवान् तुरत उसको लेकर अन्तर्धान हो गये। सब राजकुमार निराश हो गये। मुनि कामातुर होनेसे अत्यन्त विह्वल हो गये।

प० प० प्र०—गाँठमें बाँधी हुई मणि जब गाँठके खुल जानेसे कहीं गिर जाती है तब वह मनुष्य व्याकुल होकर सोचता है कि मणि कहाँ गिरी, कौन ले गया इत्यादि। इस उत्प्रेक्षासे शिवपु० का कथन ही सूचित किया है कि मुनिने यह जाना ही नहीं कि विश्वमोहिनीको कौन ले गया, नहीं तो मुनिराज सीधे उनका पीछा करते। इसीसे तो भगवान् मुनिराजको मार्गमें ही मिलते हैं और उनके क्रोधाग्निमें घृताहुति डालकर अवतार-नाटककी तैयारी करते हैं।

तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥ ६॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी॥ ७॥
बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥ ८॥
दो०—होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहि सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥ १३५॥

शब्दार्थ—**गाढ़ा**=भारी, अतिशय। घोर।

अर्थ—तब हरगण मुस्कराकर बोले कि अपना मुँह तो जाकर दर्पणमें देखिये॥ ६॥ ऐसा कहकर दोनों भारी डरसे भगे। मुनिने अपना मुँह जलमें झाँककर देखा॥ ७॥ वेष देखकर मुनिका क्रोध बहुत अधिक बढ़ा, उन्होंने उनको बहुत ही घोर शाप दिया॥ ८॥ तुम दोनों कपटी पापी हो (अतः) तुम दोनों जाकर कपटी पापी निशाचर होवो। हमको तुमने हँसा (सो) उसका फल लो (इतनेपर भी संतोष न हुआ हो तो) फिर किसी मुनिको हँसना!॥ १३५॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—१ भगवान्का आना और नृपबालाको स्वयंवरमें जीत लेना, सबका निराश होना और उस समय शिवगणोंका मजाकको खोलते हुए कहना कि जरा शीशेमें मुँह तो देखिये, यह सब प्रसंग परिहास नाटककलाके अमूल्य रत्न हैं और बड़े गजबके हैं। २—नारदके क्रोधसे श्रीवास्तवजीका यह हास्यसिद्धान्त कि घमण्डी चरितनायक चिड़चिड़ा होता है, अक्षरशः सत्य निकलता है।

नोट—१ *'तब हरगन बोले'* इस अर्द्धालीके बिना कोई हर्ज न था और न उसका कोई प्रयोजन था। हरगणोंके मुखसे ये वचन भगवत्-प्रेरणासे निकले। कारण यह कि भेष (रूप) बिना देखे क्रोध न होता, जिससे न तो शाप ही उनको होता न लीला ही पूरी-पूरी बन सकती। यदि ये वचन न कहे गये होते तो कौतुक यहीं समाप्त हो जाता, नारदको क्रोधपर जय पानेका उत्तर क्योंकर मिलता? यह सब *'कौतुक'* का अर्थ होता जाता है जो भगवान्ने कहा है।

नोट—२ शिवपु० के हरगणोंके वाक्य ये हैं—'नारदजी! आप तो वृथा ही कामसे मोहित हो रहे हैं, अपने मुखको तो देखिये कि बहुत बुरा है। यथा—'**हे नारद मुने त्वं हि वृथा मदनमोहितः। तल्लिप्सुस्स्वमुखं पश्य वानरस्येव गर्हितम्॥**'(२। ३। ५४) शिवपु० के हरगणोंका मुस्कुराना यहाँ नहीं कहा गया किंतु उनको बोलते समय *'ज्ञानविशारद'* विशेषण दिया गया है।

टिप्पणी—१ (क) *'तब हरगन बोले मुसुकाई'''* इति। भगवान्की इच्छासे हरगण ऐसा बोले। यदि ऐसा न कहते तो नारद उनको और भगवान्को शाप कैसे देते? लीला कैसे होती? साधारणतः छिद्र बता देना अपराध नहीं है। मुस्कुराकर कहनेसे अपराध हुआ। (ख) *'बिलोकहु जाई'* का भाव कि यहाँ तो दर्पण है नहीं, जहाँ मिले वहाँ जाकर देखो तो! [(ग) *'निज मुख मुकुर बिलोकहु'* अर्थात् जरा देखो तो, तुम्हारा मुँह उसे ब्याहने योग्य था? यह मुहावरा है, लोकोक्ति है। अयोग्यता जनानेके लिये ऐसा

कहा ही जाता है। पंजाबीजी लिखते हैं कि दर्पणमें देखनेको इससे कहा कि वहाँ दर्पण तो है नहीं, जबतक ये कहीं दर्पणके लिये जायँगे तबतक हम भाग जायँगे।]

टिप्पणी—२ (क) ***'अस कहि दोउ भागे भय भारी'*** इति। प्रथम कूट करके हँसते रहे तब नारद न समझे, इससे तब भय न हुआ। जब मुँह देखनेको कहा तब पीछेका किया हुआ अपराध प्रकट हुआ, इसीसे भारी भय हुआ। ***'भागे'*** इससे कि सामने रहनेपर वे चट शाप देंगे, भाग जानेपर चाहे न दें। (ख) ***'बदन दीख मुनि बारि निहारी'*** इति। जलमें मुँह देखना मना है। **'अप्सु नात्मानं नो वेक्षेत्'** सो इन्होंने किया, क्योंकि मोहसे बुद्धि नष्ट हो गयी है। [नाईके घरपर बाल बनवाने, पत्थर-परसे चन्दन लगाने और जलमें अपना रूप देखनेसे इन्द्रकी भी श्री नष्ट हो जाती है। यथा—'**नापितस्य गृहे क्षौरं पाषाणे गन्धलेपनम्। आत्मरूपं जले पश्यन् शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।**' (बाबा सरयूदासकी गुटका) परंतु स्मरण रखना चाहिये कि तिलक-प्रकरणमें जलमें मुँह देखकर तिलक करनेका निषेध नहीं है। यथा—'**दर्पणस्य ऋते विद्वान् मुखं वारौ निरीक्ष्य च। कुर्यान्मङ्गलमाकाङ्क्षन्नूर्ध्वपुण्ड्रं मनोहरम्।**' (पाद्मतिलकप्रकरण)। अर्थात् मोक्ष चाहनेवाले विद्वानोंको चाहिये कि दर्पणके अभावमें अपने मुखको पानीमें देखकर ललाटपर सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक करे। रुद्रगणोंको भागते हुए देखकर मुनिको सन्देह हुआ कि कुछ बात अवश्य है, पास ही जलपात्र (कमण्डलु) में जल था, अतः शीघ्रताके कारण इन्होंने उसीमें मुँह देख लिया जिसमें वे भाग न जावें। (श्रीबाबा रामदासजी) (रुद्रसं० २। ३) में दर्पणमें मुख देखना लिखा है—'**मुखं ददर्श मुकुरे**....।' (५५)

टिप्पणी—३ ***'बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'*** इति। अत्यन्त बढ़ा कि हमने सुन्दररूप माँगा सो हमको ऐसा कुरूप देकर सभामें हमारी हँसी करायी। क्रोध अत्यन्त बढ़ा है, इसीसे जिन्होंने हँसी की थी उनको ***'अति गाढ़ा'*** शाप दिया। ☞ प्रथम भगवान्की कृपासे नारदको काम-क्रोध कुछ न व्यापे थे, यथा—***'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी'*** और ***'भयो न नारद मन कछु रोषा'।*** अब भगवत्-इच्छासे दोनों अत्यन्त व्यापे, दोनोंने इनको जीता—***'मम इच्छा कह दीन दयाला'।*** क्रोधने जीता, यथा—***बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'।*** काम व्यापनेका उदाहरण, यथा—***'अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई।', 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी॥'*** ☞ इसी तरह जो अर्जुन भगवान्की कृपासे महाभारतमें विजयी हुए, उन्हीं अर्जुनको कोल-किरातोंने लूट लिया। तात्पर्य कि भगवत्-इच्छा बलवती है। किसीने कहा है कि ***'द्रोण करण भीषम हने भारतके मैदान। भिल्लन्ह छीनी गोपिका वेइ पारथ वेइ बान॥'*** काम ही क्रोध और लोभ बनकर दिखायी देता है। काम बना तब लोभ हुआ और बिगड़ा तो क्रोध हुआ। यथा—'**कामै क्रोध लोभ बनि दरसै**' (देवतीर्थस्वामिग्रन्थ)

नोट—३ शिवपु० में शाप इस प्रकार है 'तुमने मुझ ब्राह्मणकी हँसी की है, इसलिये उसी आकृतिवाले ब्राह्मणवीर्यसे उत्पन्न होकर भी राक्षस होगे।' यथा—'**युवां ममोपहासं वै चक्रतुर्ब्राह्मणस्य हि। भवेतां राक्षसौ विप्रवीर्यजौ वै तदाकृती॥**' (२। ३। ५७)

टिप्पणी—३ (क) ***'होहु निसाचर जाइ तुम्ह'*** जाकर निशाचर होनेका भाव कि तत्क्षण निशाचर होनेको न कहा। जैसे लोमशजीने कहा था—***'सपदि होहि पच्छी चंडाला।'*** (७। ११२) वरंच राक्षसके यहाँ अवतार होनेका शाप दिया। राक्षस होनेके शापका कारण दिया—***'कपटी पापी दोउ'*** अर्थात् तुम दोनों कपटी और पापी हो। कपट और पाप दोनों राक्षसधर्म हैं, यथा—***'देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥'*** (१७१। ६) ***'चला महा कपटी अति रोषी॥'*** (१। १८३। ३) ***'नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक करहीं॥'*** (२६३। १) ***'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी।'*** (३। २५) ***तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा॥'*** (५। ४) ***'मरती बार कपटु सब त्यागा।'*** (६। ७५) ***'राक्षस कपट बेष तहँ सोहा।'*** (६। ५६) (ख) ***'कपटी'*** इससे कहा कि वे 'कुरूप' को सुन्दर कहते रहे, यथा—***'नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई', 'रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी'।*** यही कपट है। (पुनः दोनों जानते थे कि हरिने

इनको कुरूप दिया है तो भी इन्होंने न बताया, यह कपट है) और हँसे इससे पापी कहा, हँसी करना पाप है, यथा—'*हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥*' (१। २७७) (ग) '*हँसेहु हमहिं सो लेहु फल*' इससे जनाया कि साधु-ब्राह्मणके साथ हँसी करनेसे राक्षस-शरीर मिलता है। (घ) '*बहुरि हँसेउ मुनि कोइ*' अर्थात् इतनेसे तृप्ति न हो तो फिर किसी मुनिको हँसना। भाव कि संतोंका उपहास करना हँसी-खेल नहीं है, उनको हँसनेका फल ऐसा ही होता है। (ङ) व्याकरण—'*बिलोकहु*' विधिक्रिया '*सुनहु*' '*जाहु*' '*धरहु*' '*होहु*''''' आज्ञाके अर्थमें आता है। '*हसेहु*'=(हँसा) मध्यम पुरुष भूतकाल क्रिया। यथा—'*करायेहु कहेहु गयहु बौरायेहु परचेहु*''''' *।*' *हँसेहु* (हँसना) आज्ञाके अर्थमें, विधिक्रिया मध्यमपुरुष, यथा—'*तजहु जनि।*' (श्रीरूपकलाजी)

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा॥ १॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥ २॥
देहौं श्राप कि मरिहौ* जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥ ३॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**सपदि**=शीघ्र, तुरत। यथा '*सपदि होहु पच्छी चंडाला।*' (७। ११२)

अर्थ—फिर जलमें मुँह देखा तो अपना (नारद) रूप मिला पाया, तब भी उनके हृदयको संतोष न हुआ॥ १॥ होंठ फड़कते हैं, मनमें क्रोध है। तुरत ही वे कमलापतिभगवान्‌के पास चले॥ २॥ (सोचते जाते हैं कि) शाप दूँगा वा मर जाऊँगा, उन्होंने संसारभरमें मेरी हँसी करायी है॥ ३॥ दैत्यों-राक्षसोंके शत्रु भगवान् बीच राहहीमें उनको मिल गये। साथमें लक्ष्मीजी और वही राजकुमारी थीं॥ ४॥

श्रीमान् लमगोड़ाजी—सारी प्रगतियाँ फिल्मकलाकी जान हैं। क्रोधका ठिकाना नहीं, आज भगवान्‌को शाप देने और मारनेपर तैयार हैं।—'हँसीसे निरहस' 'रारका घर हँसी'—ये कितने साफ साबित हैं।

व्याकरण—***मरिहौं, देहौं***—भविष्यकाल उत्तमपुरुष। (श्रीरूपकलाजी)

टिप्पणी—१ '*पुनि जल दीख रूप निज पावा''''' ।*' इति। (क) शापके बाद फिर मुँह जलमें देखनेसे पाया जाता है कि पहले अच्छी तरह देख न पाये थे। रुद्रगण भागे जा रहे थे, यह जानकर उनको शाप देनेके लिये (जैसे-तैसे देखकर) जल्दीसे देखना बन्दकर उनको शाप देने लगे। शाप देकर अब उनसे छुट्टी मिली तब सावधान होकर अच्छी तरह देखना चाहा। [हरिने मेरा रूप बन्दरका कर दिया। अब मुझे इस रूपमें जीना होगा, यह समझ क्रोध बहुत बढ़ा और उन्होंने रुद्रगणको शाप दे डाला। मनमें चिन्ता उठी 'क्या मेरा सदाके लिये यह रूप हो गया। जो बात बिगाड़नी थी वह तो हरिने बिगाड़ ही दी, अब तो हमारा रूप वापस दे देना था।' अतः फिर जलमें देखा (वि० त्रि०)] (ख) '*रूप निज पावा*' का भाव कि कुरूपका इतना ही मात्र प्रयोजन था कि कन्या प्राप्त न हो और ये रूप देखकर क्रोध करें, शाप दें। सो दोनों काम बने। (ग) '*तदपि हृदय संतोष न आवा*' इति। अर्थात् क्रोध शान्त न हुआ। क्योंकि अभी लीलाका कारण पूर्ण नहीं हुआ। रुद्रगणोंको राक्षस होनेका शाप मिला पर भगवान्‌को मनुष्य होनेका शाप जब हो तब लीलाका हेतु पूर्ण होवे [भाव कि राक्षस तो बन गये, उनके मारनेका, उनकी मुक्तिका तथा भूमिभार हरनेका उपाय अभी नहीं हुआ, जो भगवान्‌के अवतारके प्रधान हेतु हैं। नरतन और वानरोंकी सहायताका शाप बाकी है। २—संतोष न हुआ क्योंकि जब काम बनाना था, (विश्वमोहिनीकी प्राप्ति करानी थी) तब तो बन्दरका-सा मुख बनाया था, अब काम बिगाड़नेपर पूर्ववत् हुआ तो क्या?—(पं०) ☞राजकुमारीके हाथसे निकल जानेकी चोट कितनी भारी थी यह दिखा रहे हैं।]

टिप्पणी—२ '*फरकत अधर कोप मन माहीं।*''''' इति। (क) होंठ फड़कते हैं, मनमें कोप है अर्थात्

*—१६६१ में 'मरीहौं जाई' है। इसका अर्थ किसी-किसीने 'मारूँगा' किया है।

भीतर-बाहर कोपसे आक्रान्त हैं। [मुनिको बड़ा क्रोध है—*'बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।'* क्रोधमें ओष्ठ फड़कने लगते हैं, यथा—*'माषे लषन कुटिल भइँ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥'*] (ख) *'सपदि चले'* का भाव कि रुद्रगण हँसी करके भागे जाते थे, उन्हें जल्दीसे शाप दिया। भगवान् कुरूप करके चले जा रहे हैं, ऐसा न हो कि कहीं चले जायँ, अतः उनको शाप देनेके लिये जल्दी चले। *'सपदि'* हीके सम्बन्धसे *'कमलापति'* नाम दिया। कमला चञ्चल है, उसके ये पति ठहरे। (ग) *'देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।'''* इति। शाप दूँगा और यदि वे शाप न अङ्गीकार करेंगे तो उनके ऊपर प्राण दे दूँगा, अर्थात् ब्रह्महत्या उनको दूँगा। मरनेका हेतु दूसरे चरणमें कहते हैं—*'जगत मोरि उपहास कराई।'* ☞भले मनुष्यका मान भङ्ग होता है तो वह या तो प्राण दे देता है, आत्महत्या कर लेता है या मारे शर्मके कहीं दूर चला जाता है। यथा—**'सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरशरणम्।'** यहाँ नारदजीको अभी यह नहीं मालूम है कि भगवान् स्वयं ही राजाका रूप धरकर राजकुमारीको ब्याह ले गये, वे समझते हैं कि कोई दूसरा राजा ले गया है, नहीं तो स्त्री ले जानेका दुःख यहाँ कहते। इसीसे उनको उपहासका दुःख है, जगत्‌में हँसी करायी यह दुःख है। [मान्य-प्रतिष्ठित महानुभावोंके लिये अपयशकी प्राप्ति मरणसे भी अधिक भयंकर दुःख है, यथा—*'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (अ० ९५) **'सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते'**(गीता २। ३४) (घ) *'देहौं श्राप कि मरिहौं'* यह संदिग्ध वचन है। यहाँ संदिग्ध वचनोंका प्रयोजन था, क्योंकि भगवान् समर्थ हैं, वे अपनी इच्छासे भले ही शाप अङ्गीकार कर लें नहीं तो उनको शाप लग नहीं सकता।—(१२४। १) देखिये। इसीसे मुनि सोचते हैं कि यदि वे शाप न लेंगे तो मेरे लिये अपकीर्ति मिटानेका दूसरा कोई और उपाय है ही नहीं, मैं प्राण दे दूँगा। यहाँ विकल्प अलंकार है।]

टिप्पणी—३ *'बीचहि पंथ मिले दनुजारी'''।'* इति। (क) *'बीचहि'* का भाव कि न तो मायानगरमें ही रहे और न अभी क्षीरसागर ही पहुँचे हैं, मार्गमें दोनोंके बीचमें ही हैं। (ख) बीचमें ही क्यों मिल गये? इसका एक कारण तो *'दनुजारी'* विशेषणसे ही जना दिया है। वह यह कि रुद्रगणोंको राक्षस होनेका शाप हो चुका है, वे राक्षस होंगे। रुद्रगण जब राक्षस होंगे तब भला उनको मार ही कौन सकेगा? उनका नाश करना ही होगा। भगवान् *'दनुजारी'* हैं, उनके नाशके लिये नरतनधारी होना जरूरी होगा। अतएव नरतन धारण करनेका शाप लेनेके लिये मार्गमें ही मिले। अभी क्रोध भरा हुआ है, शाप क्रोधसे होता है—दोहा १२३ देखिये। मुनिका क्रोध शान्त न होने पावे, वे क्रोधसे शाप दे दें, इसलिये बीचहीमें मिले। पुनः, (बीचमें ही मिल जानेका दूसरा भाव यह है कि एक तो क्षीरसागर दूर है—*'होइहि जात गहरु अति भाई'* यह स्वयं मुनिके वचन हैं—दूसरे वह स्थान निर्विकार है, सात्त्विक है, वहाँ पहुँचते-पहुँचते मुनिका क्रोध ठण्ढा पड़ जाय अथवा उसका वेग बहुत कम हो जाय यह सम्भव है। तब तो बना-बनाया कौतुक ही बिगड़ जायगा।)

(बैजनाथजी लिखते हैं कि नारदजीने मारनेका संकल्प किया है, इसलिये भगवान् तुरत वीरोंकी तरह सामने आ गये, क्योंकि वे दनुजारी हैं। नारदजीकी इस समयकी आसुरी बुद्धि ही दैत्य है। पंजाबीजीके मतानुसार नारदका अहंकार ही निशाचर है, उसका अभी नाश करना है और भविष्यमें रावण-कुम्भकर्णादिको। अतः *'दनुजारी'* विशेषण दिया गया।)

(ग) *'संग रमा सोइ राजकुमारी'* इति। सङ्गमें राजकुमारी इसलिये लिये हुए हैं कि नारदजी समझ जायँ कि ये (भगवान् ही) राजाका रूप धरकर उसे ले आये हैं, नहीं तो नारदजी तो यही समझते रहे कि कोई और राजा ले गया। *'सोइ'* यदि न कहते तो समझा जाता कि कोई दूसरी राजकुमारी होगी *'रमा सोइ राजकुमारी'* का भाव कि जिसमें क्रोध उत्पन्न हो कि रमा ऐसी स्त्रीके रहते हुए भी इन्होंने हमारा भारी अपकार किया।—ये सब क्रोध उपजाने (और उत्तेजित करने) के कारण हैं। [*'संग रमा'* क्योंकि रमाजीको वे पहिचानते हैं, साथ देखकर समझ जायँगे कि (राजारूपमें) ये भगवान् ही

हैं। (रा० प्र० पं०) पुनः, भाव कि नारद *'कमलापति'* के पास चले हैं, अतएव कमलाजीको भी साथ लेकर भगवान् सामने आये (वै०)]

नोट—शिवपु० में शाप देनेके पश्चात् जलमें मुँह देखना कहा है और मानसमें दोनों बार जलमें ही देखा है। इससे जान पड़ता है कि शिवपु० के हरगणोंने रङ्गभूमिमें ही सम्भवतः कहा हो और वहाँ दर्पण होनेसे वहीं पहली बार देखा हो और शाप वहाँसे बाहर निकल जानेपर दिया हो। इसीसे वहाँ दूसरी बार जलमें मुँह देखना कहा गया। मानसमें मर्यादाके साथ चरित हुआ है। यथा—**'जले मुखं निरीक्ष्याथ स्वरूपं'''।'** (२। ४। ३) शिवपु० के नारदने विष्णुलोकमें जाकर शाप दिया है। ***'देहौं श्राप'''*** से *'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।'* तकके मानसवाक्य उसमें नहीं हैं।

बोले मधुर बचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं॥५॥
सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा॥६॥
पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी॥७॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु॥८॥

दो०—असुर* सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु॥१३६॥

शब्दार्थ—**बोध**=ज्ञान, चेत, समझ। **सम्पदा**=धन दौलत, ऐश्वर्य। **इरिषा**=ईर्ष्या, डाह, हसद। **बौरायेहु**=बावला बना दिया, बेवकूफ बनाया, विक्षिप्त बुद्धि कर दी, ठगा, पागल बनाया।

अर्थ—देवताओंके स्वामी भगवान् मीठे वचन बोले—'हे मुनि! आप व्याकुल-सरीखे कहाँ चले जा रहे हैं?'॥५॥ वचन सुनते ही अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ। मायाके वश होनेसे मनमें चेत (ज्ञान) न रह गया॥६॥ (वे बोले कि) तुम परायी सम्पदा—ऐश्वर्य नहीं देख सकते, तुम्हारे ईर्ष्या और कपट बहुत है॥७॥ समुद्र मथते समय तुमने शिवको बौरा दिया, देवताओंको प्रेरित करके (तुमने उनको) विष पिलाया॥८॥ दैत्योंको सुरा (मदिरा), शंकरजीको विष (दिया) और स्वयं सुन्दर लक्ष्मी और कौस्तुभमणि (लिया), तुम स्वार्थके साधक हो, कुटिल हो। तुम्हारा सदासे ही कपटका व्यवहार है॥१३६॥

नोट—१ ***'बोले मधुर बचन''''*** यह मधुर व्यंग क्रोधाग्निके लिये घृतका काम करनेवाला है।

नोट—२ व्याकरण—'बौरायेहु, करायेहु,' मध्यम पुरुष भूतकालिक क्रिया' (श्रीरूपकलाजी।)

टिप्पणी—१ (क) ***'बोले मधुर बचन''''***। भगवान् सदा मधुर वचन बोलते हैं पर इस समय मधुर वचन क्रोधका कारण है। (बैजनाथजीका मत है कि शापका सङ्कल्प है, इसलिये मर्म जानकर 'सुरस्वामी' मधुर वचन बोले। और 'मारने' का सङ्कल्प है अतएव ईर्ष्यावर्द्धक वचन बोले, जिसमें प्रतिज्ञाका पालन करें।') (ख) ***'सुरसाईं'*** का भाव कि देवताओंके स्वामी हैं, अतः उनकी रक्षाके लिये राक्षसोंको मारेंगे, ***'असुर मारि थापहिं सुरन्ह''''***। [देवताओंके हितके लिये अपने ऊपर शाप लेना चाहते हैं, इसीसे मधुर वचन बोलकर उनके क्रोधको प्रज्वलित करते हैं। अतः ***'सुरसाईं'*** कहा।]

नोट—३ मार्गमें ही आकर मिलना, साथमें उसी राजकुमारीको भी लिये होना और ईर्ष्याजनक मधुर वचन बोलना ये ही सब बातें क्रोधको अत्यन्त प्रज्वलित करनेका कारण हुईं।

नोट—४ मधुर वचनसे तो क्रोध शान्त होता है, यहाँ उसका उलटा हुआ? यह बात ठीक है कि मीठे वचनोंसे शान्ति होती है। परन्तु यह भी स्वयंसिद्ध है कि यदि कोई किसीका सर्वस्व छीन ले और फिर उससे मीठे वचन बोले तो शान्ति कदापि नहीं हो सकती, वे ही शीतल वचन क्रोधाग्निको अधिक भड़कानेवाले हो जाते हैं, यथा—***'सुनि मृदु बचन मनोहर पियके।''''''सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरदचंद निसि जैसें॥'*** (अ० ६४)

* पाठान्तर—सुरासुरहिं—(रा० प०)।

नोट—५ '*कहँ चले बिकल की नाईं*' इति। मुनि बहुत विकल हैं, यह प्रथम ही कह आये। यथा—'*मुनि अति बिकल मोह मति नाठी*.....' [वे अपनी धुनमें चले जा रहे हैं, इससे भगवान् स्वयं छेड़कर बोले। '*बिकल की नाईं*' का भाव कि आप मुनि हैं, विकल तो हो नहीं सकते, यथा—'*ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहिं कि करै मनोभव पीरा॥*' यह विकलताका आभास होगा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) '*सुनत बचन उपजा अति क्रोधा*', इससे स्पष्ट पाया जाता है कि क्रोध उत्पन्न करनेके लिये ही मधुर वचन कहे गये थे। यहाँ कहते हैं कि क्रोध '*उपजा*' परन्तु क्रोध तो पूर्वहीसे चला आता है, यथा '*बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा*' तब '*उपजा अति क्रोधा*' कैसे कहा? इस संभावित शङ्काका समाधान यह है कि अपना वेष जलमें देखनेपर क्रोध अवश्य बहुत बढ़ा था, पर वह क्रोध रुद्रगणोंको शाप देनेपर कुछ शान्त हो गया, शाप देनेमें वह '*अति*' क्रोध खर्च हो गया। अब भगवान्‌के वचन सुननेपर उनको शाप देनेके लिये वही क्रोध फिर उत्पन्न हो गया। (ख) '*मायाबस न रहा मन बोधा*' इति। तात्पर्य कि यदि बोध रहता तो अपने स्वामीको शाप न देते। न अति क्रोध होता, न कटु वचन निकलते। (ग) ☞ पञ्चपर्वा अविद्याके पाँचों विकार नारदको व्यापे। (१) तमसे अविवेक होता है सो यहाँ '*माया बस न रहा मन बोधा*' (२) मोहसे अन्तःकरणमें विभ्रम होता है, सो यहाँ '*जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी॥*' (३) महामोहसे स्त्रीगमनकी इच्छा होती है सो यहाँ '*जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला॥*' (४) अन्धतामिस्रसे मरणकी इच्छा होती है, सो यहाँ '*देहौं श्राप कि मरिहौं जाई।*' (५) तामिस्रसे क्रोध होता है, सो यहाँ '*सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।*'

नोट—६ अन्धतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह और तम ये पाँच अज्ञानकी वृत्तियाँ ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें उत्पन्न की थीं। यथा—भागवते तृतीयस्कन्धे द्वादशाध्याये—'**ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्। महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥**' (२) इन्हींको पञ्चपर्वा अविद्या कहते हैं और पञ्चक्लेश भी, यथा—'**तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥**' (विष्णुपु०)

टिप्पणी—३ '*पर संपदा सकहु नहिं देखी*' इति। (क) '*पर संपदा*' कहा, क्योंकि मुनि कन्याको अपनी स्त्री मान चुके थे और ले गये उसको भगवान्। (राजकुमारीको अपनी जानते थे, इसीसे वह 'अपनी संपदा' हुई और भगवान्‌के लिये वह '*पर संपदा*' हुई) '*सकहु नहिं देखी*' कहकर उनमें खलता दिखायी, यथा—'*खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥*' (ख) ☞ जबतक कन्याका ले जाना न जाना था तबतक उपहास करानेका दुःख हृदयमें रहा, '*जगत मोरि उपहास कराई।*' अब जान गये कि कन्या ये ही ले आये हैं तब कन्याके ले जानेका दुःख हुआ। (ग) पर सम्पदा नहीं देख सकते हो इसका तात्पर्य यह कि तुम स्वंय ही ले लेते हो। [पुनः, भाव कि तुम्हारे सुन्दर स्त्री भी है, तुम अमर और अजेय भी हो, चराचर तुम्हारी सेवा भी करता है। यह सब सम्पदा तुम्हें प्राप्त है, पर ऐसी सम्पदा हमें भी प्राप्त हो जाय, यह तुम नहीं देख सकते। आगे परसम्पदाहरणके उदाहरण देते हैं। (घ) '*तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी*' अर्थात् इसीसे पर सम्पदा नहीं देख सकते। ईर्षाका अर्थ ही है, 'परसंपदा न देख सकना'। तुम्हारे कपट है अर्थात् कपटी हो, कपट-छलसे परायी सम्पदा ले लेते हो। '*बिसेषी*' का भाव कि और भी अनेकों अवगुण तुममें भरे हैं, पर ईर्ष्या और कपट ये दो अवगुण विशेष हैं। (और सब सामान्य हैं। अथवा ईर्ष्या आदि अन्य देवताओंमें भी होते हैं पर तुममें सबसे विशेष हैं।)

टिप्पणी—४ '*मथत सिंधु रुद्रहिं बौराएहु।*....' इति। (क) विष देना भारी दुष्कर्म है, इसीसे इसे प्रथम कहा। इससे जनाते हैं कि तुम आततायी हो। (ख) '*सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु*' अर्थात् देवताओंसे कहा कि शिवजी विषपान कर सकते हैं, जाकर उनसे प्रार्थना करो। उन्होंने जाकर प्रार्थना की तब शिवजीने

विष पी लिया। (ग) *'सुरन्ह प्रेरि'* का भाव कि तुम ऐसे कपटी हो कि देवताओंको अपयशी बनाया और स्वयं साफ रहे; वस्तुत: जहर तुम्हींने पिलाया।

नोट—७ *'बौराएहु' 'कराएहु'* शब्दोंसे सूचित करते हैं कि देवताओंमें यह बुद्धि कहाँ थी? तुम्हारे ही सुझानेसे यह बुद्धि उनमें हुई। *'बौराएहु'* का भाव कि शिवजी तो भोले-भाले थे, इससे उनको बातोंमें लाकर विष पिलवाया, वे अपने भाग्यसे जीवित बचे—(शुकदेवलाल) यथा—'**दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम्। तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्। अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो॥**' (२३-२४) अर्थात् (भगवान् विष्णुने मुसकराते हुए शूलधारी रुद्रसे कहा) देवताओंके समुद्रमन्थन करनेसे जो पहले प्राप्त हुआ है, हे देवश्रेष्ठ! वह आपका है, क्योंकि आप देवताओंके अग्रगामी हैं। महाराज! यहाँ स्थित होकर आप इस अग्रपूजाको ग्रहण करें। (वाल्मी० १। ४५) पुन:, बौराया इसलिये कि जिसमें बेखटके होकर, रमा और कौस्तुभमणि स्वयं ले जा सकें। (वै०)

टिप्पणी—५ *'असुर सुरा बिष संकरहि'''''* इति। (क) यहाँ असुर, शङ्कर और *'आपु'* (भगवान्) तीन नाम लिये। सुरोंका नाम न लिया, क्योंकि देवताओंने उत्तम-उत्तम पदार्थ पाये। शिव और असुर दोके नाम लिये। तात्पर्य यह कि इन दोनोंमेंसे एक (शिव) प्रिय है और दूसरा (अप्रिय) है। इस प्रकार दिखाया कि प्रिय और अप्रिय, मित्र और शत्रु दोनोंका ही अहित करते हैं, किसीको नहीं छोड़ते। हम तुम्हारे दास हैं सो हमारे साथ भी तुमने अहित किया, हमें भी न छोड़ा। शिवजी प्रिय भक्त हैं सो उनको विष पिलाया। राक्षस शत्रु हैं सो उनको मदिरा पिलायी। (ख) *'स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु'* इति। *'सदा'* का भाव कि कुछ आज ही कपट और कुटिलतासे कुमारीको तुम ले गये हो वा आज ही स्वार्थ साधा हो, यह बात नहीं है, सदासे तुम्हारा यह कपटव्यवहार चला आ रहा है। (ग) ☞ यहाँ शिवजीको विषपान करानेकी बात दो बार लिखी गयी, एक तो *'सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु'* और दूसरे *'असुर सुरा बिष संकरहि।'* इसका कारण क्रोध है, क्रोधमें निकम्मी (बुरी) बात बारम्बार निकलती है। (अथवा, पुराणोंके भेदसे ऐसा कहा। वाल्मीकिजीके अनुसार विष्णुभगवान्ने ही शिवजीसे कहा कि प्रथम वस्तु आपका भाग है आप इसे ग्रहण करें।) (घ) *'आपु रमा मनि चारु'* स्वयं सुन्दर मणि और सुन्दर लक्ष्मी ली, इसीसे *'स्वारथ-साधक'* कहा। दूसरेको ठगकर अपना स्वार्थ साधा; इसीसे *'कुटिल'* कहा और मोहिनीरूप धरकर सबको ठगा, इसीसे *'कपटी'* कहा। शिवजीको *'बौराया'* (बावला बनाया) राक्षसोंको उन्मत्त किया, देवताओं और दैत्योंको आपसमें लड़ाकर उनमें संग्राम कराया, यह सब *'कुटिलता'* है। (ङ) पुन:, भाव कि पूर्व जो तीन बातें कही थीं—*'परसंपदा सकहु नहिं देखी' 'तुम्हरे इरिषा'* और *'कपट बिसेषी',* उन्हींके सम्बन्धसे यहाँ *'स्वारथसाधक', 'कुटिल'* और *'सदा कपट ब्यवहारु'* ये तीन बातें कही गयीं। परसम्पदा देख नहीं सकते इसीसे स्वार्थसाधक हो, ईर्ष्या है इसीसे कुटिल हो और कपट विशेष है इसीसे तुम्हारा व्यवहार सदा कपटका रहता है। पुन:, (च) पूर्वार्द्धमें जो कहा—*'असुर सुरा'''''* उसीके सम्बन्धसे उत्तरार्द्धमें तीन उसके कारण बताये। स्वार्थसाधक हैं, इसका प्रमाण—*'आपु रमा मनि चारु'* है इसीलिये मणि और रमाको स्वयं ले लिया। कुटिल है इसका उदाहरण है कि शङ्करजीको विष दिया। कपटव्यवहार है इसका प्रमाण कि असुरोंको मदिरा पान करायी। मोहिनीरूप धरकर सबको ठगा। [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि कुटिलका भाव यह है कि स्नेही बनकर हमसे कहा कुछ और किया कुछ।]

नोट—८ शिवपु० में शापवाले मिलानके श्लोक ये हैं—'**हे हरे त्वं महादुष्टः कपटी विश्वमोहनः। परोत्साहं न सहसे मायावी मलिनाशयः॥ मोहिनीरूपमादाय कपटं कृतवान्पुरा। असुरेभ्योऽपायस्त्वं वारुणीममृतं न हि॥ चेत्पिबेन्न विषं रुद्रो दयां कृत्वा महेश्वरः। भवेन्नष्टाऽखिला माया तव व्याजरते हरे॥ गतिस्सकपटा तेऽतिप्रिया विष्णो विशेषतः। साधुस्वभावो न भवान् स्वतन्त्रः प्रभुणा कृतः॥'''तज्ज्ञात्वाहं हरे त्वाद्य शिक्षयिष्यामि तद्बलात्। यथा न कुर्याः कुत्रापीदृशं कर्म कदाचन॥**' (६—१२) अर्थात् हे हरि! तुम महादुष्ट, कपटी, संसारको मोहित करनेवाले, मायावी, मलिनचित्त हो, किसीका उत्साह नहीं सह सकते हो। मोहिनीरूप धरकर असुरोंको

अमृत न पिलाकर मदिरा पिलायी यह कपट किया। यदि दयालु शङ्करजी विष न पी लेते तो आपकी सब माया नष्ट हो जाती। तुमको कपटीकी चालें अति प्रिय हैं। तुम्हारा स्वभाव सज्जनोंका-सा नहीं है। तुम स्वतन्त्र हो…यह जानकर अब मैं ब्राह्मणत्वके बलसे तुमको अभी शिक्षा देता हूँ, जिसमें फिर तुम कभी ऐसा कर्म न करो। (रुद्रसं० २।४)

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥ १॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू॥ २॥
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू॥ ३॥
कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। अब लगि तुम्हहि न काहू साधा॥ ४॥
भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥ ५॥

शब्दार्थ—**'स्वतन्त्र'**=आजाद। **'डहकि'**=डाका डालकर, धोखा देकर, छलकर, ठगकर, यथा-***'ज्ञान बिराग भक्ति साधन कहि बहु बिधि डहकत लोक फिरौं'*** (विनय), ***'जूझेते भल जूझिबो भली जीत ते हार। डहकेते डहकिबो भलो जो करिय बिचार॥'*** (दो०) ***'साधा'*** सीधा या ठीक किया। ***परिचेहु***=परक गये। परचना (सं० परिचयन)=चसका लगना, टेव पड़ना। जो बात दो-एक बार अपने अनुकूल हो गयी हो या जिसको दो-एक बार बेरोक-टोक मनमाना करने पाये हों उसकी ओर प्रवृत्त होना।

व्याकरण—***'परिचेहु'***—मध्यमपुरुष भूतकाल क्रिया। ***बंचेहु, खायेहु, मारेहु*** इत्यादि। ***'डहकि'*** पूर्वकालिक क्रिया। ***भावै***—वर्तमान क्रिया, अन्य पुरुष, यथा—खावै, सोवइ। (श्रीरूपकलाजी)

अर्थ—तुम परम स्वतन्त्र हो, तुम्हारे सिरपर कोई नहीं है, तुम्हारे मनको भाता (जो) है वही तुम करते हो॥ १॥ भलेको बुरा और बुरेको भला करते हो, भय या हर्ष कुछ भी मनमें नहीं धरते॥ २॥ सब किसीको ठग-ठगकर ढीठ हो गये हो, अत्यन्त निडर हो, मनमें सदा उत्साह रहता है॥ ३॥ शुभ-अशुभ कर्म तुम्हें बाधक नहीं होते, अबतक तुम्हें किसीने ठीक न किया॥ ४॥ अब अच्छे घर तुमने बायन दिया है, अपने कियेका फल पावोगे॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) ***'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई'*** अर्थात् तुम देवता, मनुष्य, राक्षस, चर और अचर सबके ऊपर हो, तुम्हारे ऊपर कोई नहीं है। ***'परम स्वतंत्र'*** और ***'भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई'*** से भगवान्‌में ***'निरंकुस'*** होना यह दोष दिखाया। ***'परम स्वतंत्र'*** कहकर ***'न सिरपर कोई। भावै मनहिं करहु…'*** यह उसका अर्थ कर दिया। (ख) ***'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू'*** अर्थात् धर्मात्माओंको पापी बनाकर नरकमें भेजते हो और पापीको सुकृती बनाकर वैकुण्ठमें भेज देते हो। जैसे कि धर्मात्मा नृगको गिरगिट बनाया और पापी अजामिलको अपना धाम दिया। हम तुम्हारे भक्त हैं, तुम्हारा भजन करते हैं, सो हमारा भी उपहास हजारोंमें कराया। उचित-अनुचितका विचार ही नहीं करते, जो मनमें आया वह कर डालते हो। (ग) ***'बिसमय हरष न हिय कछु धरहू'*** अर्थात् भलेको मंद करनेमें कुछ भय नहीं करते और मंदको भला बनानेमें कुछ हर्ष भी तुम्हारे हृदयमें नहीं होता ऐसे निठुर हो। इससे निठुरतादोष भगवान्‌में दिखाया। तुम्हारे दया नहीं है। (घ) ***'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू'*** सबको ठग-ठगकर परच गये हो अर्थात् ढीठ हो गये हो, इसीसे 'अति असंक हो' और मनमें डहकनेका उत्साह सदा बना रहता है। यहाँ ***'निःशंकता'*** का दोष दिखाया। ☞ग्रामवासियोंने ब्रह्मामें तीन दोष गिनाये हैं। 'निपट निरंकुश, निठुर और निशंक'। यथा— ***'बिधि करतब उलटे सब अहहीं। निपट निरंकुस निठुर निसंकू॥ जेहि ससि कीन्ह सहज सकलंकू॥ रुख कलपतरु सागरु खारा।'*** (अ० ११९, २—४) वही दोष क्रमसे नारदजी भगवान्‌में कहते हैं। तात्पर्य कि ग्रामवासियोंने समझकर ब्रह्मामें दोष कहा और नारद बिना समझे भगवान्‌में दोष कहते हैं। इससे पाया गया कि इस समय नारदजी ग्रामीण पुरुषोंसे भी अधिक बुद्धिहीन हो गये हैं —***'माया बस न रहा मन बोधा।'*** ☞जान पड़ता है कि यह सब कहते

जाते हैं तब भी भगवान् मुसकराते ही रहे; इसीसे *'मन सदा उछाहू'* कहा। ग्रामवासियों और नारदके वचनोंका मिलान—

ग्रामवासिनी	नारदजी
निपट निरंकुस	*परम स्वतंत्र*
निठुर	*भलेको बुरा करनेमें दयारहित होना*
निसंकू	*अति असंक*

वहाँकी चौपाईके एक चरणमें यहाँकी तीनों चौपाइयाँ गतार्थ हैं। वहाँ स्त्रियाँ ब्रह्माको दोष लगाती हैं, यहाँ नारद उनसे भी बड़े अर्थात् भगवान्‌को दोष लगा रहे हैं। इसका कारण क्रोध है, महा अन्धकार है, जिसमें कुछ नहीं सूझता—न स्वामी न पिता इत्यादि। यथा—*'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥'* (४। २१४)

टिप्पणी—२ (क) *'करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा'* इति। *'करम कि होहि स्वरूपहि चीन्हें।'* (७। ११२। ३) भगवान्‌को जान लेनेसे जान लेनेवालेके कर्मोंका नाश होता है तब भगवान्‌को शुभाशुभ कर्म कैसे बाधक हो सकता है? 'बाधा नहीं करता' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हें फल नहीं दे सकते। शुभाशुभकर्मके फलदाता विधाता हैं, यथा—*'कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥'* (२। २८२। ४) गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि कर्म मुझे लिप्त नहीं कर सकते। **'न मां कर्माणि लिम्पन्ति'''''**।' (४। १४) अतः कहा कि *'कर्म बाधा'*। (ख) *'न काहू साधा'* अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंका फल किसीने न दिया, अब हम देंगे।

नोट—१ *'कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा'* इति। भाव यह है कि कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं सो वे भी आपको कर्मका फल दे नहीं सकते, रहे शिवजी सो उनको तुमने विष ही पिलाया था, वे भी तुम्हारा कुछ न कर सके। ये दोनों मुखिया थे सो उनकी यह दशा हुई; और जितने देवता-दैत्य हैं उनमें परस्पर विरोध कराते हो सो वे भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते। अब इनसे अधिक और रह ही कौन गया जो तुम्हें साधनेयोग्य हो?

टिप्पणी—३ *'भले भवन अब बायन दीन्हा'* इति। *'भले भवन'* का भाव कि टूटे घरसे अर्थात् गरीबके घरसे बायन नहीं लौटता (क्योंकि उसको बदला देनेका सामर्थ्य नहीं है तब बदलेमें बायन क्या दे सके?), अच्छे घरसे लौटता है (अर्थात् अमीर घरके यहाँ जो बायन दिया है उसका बदला भी मिलता है, अपना दिया हुआ (कभी-न-कभी) वापस मिलता है। (ख) *'अब'* का भाव कि इतने दिन अच्छे घर बायन न दिया था (अर्थात् जिन-जिनको बायन दिया था वे गरीब थे, बदलेमें बायन देनेको असमर्थ थे) इसीसे न लौटा था। भाव कि शिवके घर बायन दिया। उनको विष पिलाया यह बायन दिया। असुरोंके घर बायन दिया। उनको ठगकर मदिरा पिलायी, यह बायन उनको दिया। इनमेंसे किसीके यहाँसे बायन न लौटा। वे गरीब थे। अब अच्छे घर बायन दिया है अर्थात् हम अमीर हैं, जैसा बायन दिया वैसा ही लौटानेको समर्थ हैं। पलटेका बायन देते हैं, लो! जो बायन दिया और जो मिला—दोनों आगे कहते हैं। (ग) *'पावहुगे फल आपन कीन्हा'*। बायन विवाहादि उत्सवोंमें फेरा जाता है। यहाँ तुम दुलहिन ब्याह लाये हो, उसी उत्साह (उत्सव) में हमारे यहाँ तुमने बायन भेजा है अर्थात् हमसे वैर किया है सो उसका फल पाओगे। ☞यहाँतक दुर्वचन कहे; आगे शाप देते हैं। *'आपन कीन्हा'* क्या है और फल क्या है यह आगे कहते हैं।

नोट—२ मिलानके श्लोक, यथा—'**अद्यापि निर्भयस्त्वं हि संगं नापस्तरस्विना। इदानीं लप्स्यसे विष्णो फलं स्वकृतकर्मणः॥**' (१३) अर्थात् अबतक निर्भय तुम रहे। कभी वेगवालोंसे पाला नहीं पड़ा। इस किये हुए अपने कर्मका फल अब तुम पाओगे।

नोट—३ पंजाबीजीका मत है कि नारदजी परम भक्त हैं, उनके मुखसे प्रभुके प्रति दुर्वचन कथन ठीक नहीं जँचता; अतएव सर्वज्ञा सरस्वतीने इन वचनोंके अर्थ स्तुतिपक्षमें लगाये हैं—

नारद वाक्य	स्तुति-पक्षका अर्थ—
१ *पर संपदा सकहु नहिं देखी*	१ पर=शत्रु। परसम्पदा=शत्रुकी सम्पदा=आसुरी सम्पदा। अर्थमें 'संतों-भक्तोंमें' शब्दोंका अध्याहार कर लेना होगा। इस तरह अर्थ हुआ कि 'अपने भक्तोंमें आसुरी सम्पदा नहीं देख सकते'। ***'पन हमार सेवक हितकारी'*** इसका कारण है।
२ *तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी*	२ तुम्हारे (तुममें) ईर्ष्या और कपटसे विशेषता है अर्थात् आप मत्सर और दम्भसे परे हैं। अथवा, विशेष=विगत शेष। अर्थात् ईर्ष्या और कपट लेशमात्र नहीं है। [***'कपट बिसेषी'*** अर्थात् विशेष प्रकारकी मायासे आप ईर्ष्या आदि करके भी सेवकहित करा लेते हैं। सब कुछ कर-कराकर भी आप अलिप्त रहते हैं—***'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू'***। प० प० प्र०]
३ *मथत सिंधु रुद्रहि बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु॥*	३ इस वाक्यसे प्रभुको सर्वशक्तिमान् जनाया। भाव कि आपके लिये कोई कार्य दु:साध्य नहीं है। [विषके रूपमें उनको अमृत ही तो दिया, ***'कालकूट फल दीन्ह अमी को।'*** और उनको संसाररोग भगानेवाला बना दिया। **'संसाररुजं द्रावयति इति रुद्रः।'** आप महादेवजीको नचानेवाले हैं—***बिधि हरि संभु नचावनिहारे'***। प० प० प्र०]
४ *असुर सुरा...चारु*	४ इससे प्रभुको यथोचित व्यवहारमें कुशल वा निपुण जनाया। [जो विष सुरासुरोंको भस्म करनेवाला था उसे शिवजीको देकर उन सबोंकी रक्षा की। यह सब 'शं-कर' अर्थात् कल्याण करनेके लिये ही किया। आपने रमा और मणि ले लीं यह ***'चारु'*** अर्थात् बहुत अच्छा किया, अन्यथा उनके लिये सुरों और असुरोंमें झगड़ा हो जाता। प० प० प्र०]
५ *स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु*	५ जो स्वार्थसाधक कपटी हैं उनके लिये आप सदा कुटिल अर्थात् दु:खदायक हैं। अथवा, जो कुटिल और कपटी हैं उनके भी स्वार्थके साधक हैं। [कुटिल=प्रणत, नम्र। स्वारथ (—अपनेको जो अर्थ है उसको) आप साधते हैं, जब वे नम्र वा प्रणत होते हैं। प० प० प्र०]
६ *परम स्वतंत्र...*	६ इससे प्रभुको परम समर्थ सूचित किया। (स्वतन्त्र=आत्मतन्त्र। यथा—***'भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी।'*** १। ५१ छंद। प० प० प्र०)
७ *न सिर पर कोई*	७ आपकी ही आज्ञामें सबको चलना पड़ता है, आपसे बड़ा कोई है ही नहीं। यथा—***'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिअ देखहु नीके। राम रजाइ सीस सब ही के॥'*** (२। २५४)
८ *भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई।*	८ ***'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥'*** (२। २९८) ***'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'*** ***'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'*** के भाव स्तुति-पक्षमें हैं।
९ *भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिस्मय हरष न हिअ कछु धरहू॥*	९ इससे भी सामर्थ्य सूचित हुआ। पुनः, भलेहि अर्थात् जिनको उत्तम कार्य करनेका अहङ्कार हो जाता है उनको नीचा करते हो और जो दुष्कर्म करनेवाले हैं (वे आपकी शरणमें आते हैं तो) आप उनको संत बना देते हैं, इसमें आपको हर्ष-शोक कुछ नहीं होता; क्योंकि उन्होंने अपनी करनीका फल पाया है। यथा—***'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक***

ते हीन।' (७। १२२) *'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायक'''।'* (७। ११९) *'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'* (१। २२४) *'करउँ सद्य तेहि साधु समाना' 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥ जीव करम बस सुख दुख भागी।'* (२। १२। ३-४)

१० *डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।* — १० अर्थात् जब प्रेमी लोग नियम-व्रतादि करके अधिक खेदको प्राप्त होते हैं तब आप उनको अपने भजनमें लगा लेते हैं। (आपको ठगनेवाला कोई नहीं है। किसी-किसी बड़भागीको शुभाशुभदायक कर्मसे ठग-ठगकर धीर बनाते हैं। प० प० प्र०)

११ *अति असंक...साधा।* — ११ यह सब चरण स्तुतिपक्षमें ही हैं। [भाव कि आप ही सर्वरूप हैं और सबमें हैं, इसीसे निर्भय हैं। यथा—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (श्रुति), **'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।'** ***'कर्म सुभासुभ न बाधा'*** अर्थात् आप कर्मातीत हैं, कर्मबन्धनसे परे हैं। यथा—**'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।' 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥'** (गीता ३। २२) *'तुम्हहि न काहू साधा'*—अर्थात् आपकी प्राप्ति साधनसाध्य नहीं है, आपकी कृपासे ही आपकी प्राप्ति होती है। यथा *'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।'* (२। १२७। ४) (प० प० प्र०)]

१२ *भले भवन अब बायन दीन्हा* — १२ *'भले भवन'* अर्थात् संतोके यहाँ आपने नेवता (बायन) दिया अर्थात् उनको पापसे बचाया। इसका फल आप पायेंगे अर्थात् रावणको मारकर यश प्राप्त करेंगे। (पं० का पाठ 'पायन' है जिसका अर्थ नेवता किया है।) [कर्मातीत होते हुए भी आप जो कुछ भी करना चाहते हैं। उसमें मैं सहायक बन जाऊँ। आपकी इच्छा सफल होगी ही। प० प० प्र०]

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥ ६॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥ ७॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारिबिरह तुम्ह होब दुखारी॥ ८॥
दो०—श्राप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि॥ १३७॥

शब्दार्थ—**'जवनि'**=जौन, जो। **'आकृति'**=रूप, मुख। **'अपकार'**=अहित, हानि, द्वेष, अनिष्ट-साधन, अनभल, अपमान। **करषि लीन्हि**=खींच लिया।

अर्थ—जो देह धरकर तुमने मुझे ठगा, वही देह धरो, यह मेरा शाप है॥ ६॥ तुमने हमारा रूप बन्दरका-सा बना दिया, तुम्हारी सहायता बन्दर ही करेंगे॥ ७॥ तुमने हमारा भारी अपमान और अहित किया, तुम भी स्त्री-वियोगमें दुःखी होगे॥ ८॥ मनमें प्रसन्न होते हुए प्रभुने शापको शिरोधार्य कर नारदसे बहुत विनती की (और उसके बाद) कृपानिधान भगवान्‌ने अपनी मायाकी प्रबलताको खींच लिया॥ १३७॥

नोट—१ मुनिके क्रोधका क्या ठिकाना? वह बातें कह डालीं जो शायद कोई नास्तिक भी मुँहसे न निकालेगा। परंतु वाह रे कौतुकी भगवान्! पूरे खिलाड़ी आप ही हैं! साथके खिलाड़ीके सारे शाप भी अङ्गीकार कर लेते हैं। मानवी आकृति भी ग्रहण की, वानर-सेनासे सहायता भी ली और सीता-

वियोगमें विलाप भी किया। महर्षि वाल्मीकिजीने ठीक ही कहा है कि आप जैसा काँछते हैं वैसा ही नाचते हैं। मजाक करनेसे मजाकका नतीजा बरदाश्त करना अधिक कठिन है। भगवान्‌की विनतीका यही रहस्य है। (लमगोड़ाजी)

नोट—२ (क) इन अर्धालियोंके पूर्वार्द्ध (प्रथम चरण) में *'बायन'* और उत्तरार्द्धमें उसका *'बदला'* बताया गया है। (ख) यहाँ जो शाप नारदने दिया है उसमें साधारणतः कोई बुराई नहीं देख पड़ती. वरंच सब अच्छी ही बातें जान पड़ती हैं। जैसे नृपतन धरकर राज्य करना, निशाचरोंकी लड़ाईमें सहायक भी मिल गये। परंतु तनिक ध्यानसे स्पष्ट हो जाता है कि इस अर्थमें जो आशीर्वाद-सा जान पड़ता है वह आशीर्वाद नहीं है। (विशेष टि० १ देखिये)

नोट—३ व्याकरण—*'करिहहिं'*—अन्य पुरुष, बहुवचन, भविष्य क्रिया। यथा धरिहहिं, होइहहिं, हँसिहहिं इत्यादि। **होब**=होंगे, भविष्य क्रिया, मध्यम पुरुष। (श्रीरूपकलाजी)

टिप्पणी—१ *'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा।'''* इति। (क) भगवान्‌ने नृपतन धरकर नारदको ठगा था, यथा—*'नृपतन धरि तहँ गएउ कृपाला।'* इस तरह *'जवनि धरि देहा सोइ तनु'* से नृपतन धरनेका शाप दिया। (ख) *'तनु धरहु श्राप मम एहा'* का भाव कि तन धारण करना कर्मका फल है, कर्मके अधीन है पर तुमको शुभाशुभ कर्म बाधा नहीं करते—(जैसा भगवान्‌ने स्वयं **'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।'** (गीता २। १४) में कहा है। अर्थात् कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये कर्म मुझको लिपायमान नहीं करते)—इसीसे तुम्हें मनुष्य नहीं होना पड़ता; अतएव हम शाप देते हैं, हमारे शापसे तुम्हें तन धरना पड़ेगा (अर्थात् ईश्वरसे मनुष्य होना पड़ेगा। हमारे शापसे तुम्हें कर्मका फल भोगना होगा।) (ग) ईश्वरके लिये नरतन धारण करना बड़ी हीनताकी बात है, यथा—*'राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥'* (१। २४। १) इसीसे मुनिने नरतन धरनेका शाप दिया। (घ) भगवान्‌के किये हुए कर्म और उनके फल जो शापद्वारा मिले, इन दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है, चौपाइयोंके भाव भी साथ-ही-साथ दिखाये जायँगे।

भगवान्‌का किया हुआ कर्म		कर्मका फल जो शापद्वारा मिला
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा।	१	*सोइ तनु धरहु''''' ॥*

☞(नारदजी कन्याको अपनी स्त्री मान चुके थे, इसीसे वे कहते हैं कि तुमने मुझे ठगा। जो शरीर तुमने धारण किया था, वही हो। नर बने थे, अतः अब नर बनो।)

कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।	२	*करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥*

☞(कोई ईश्वरकी सहायता करे! और फिर वह भी बन्दर! दोनोंमें ईश्वरकी बड़ी हीनता है। यथा—*'सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥'* (५। ५६। ४) *'सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई॥'* (६। २८। १)

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।	३	*नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी॥*

[पुनः भाव कि तुम्हारी ऐसी असहायावस्था हो जायगी कि बन्दरोंके पास जाकर सहायता माँगोगे। वे तुम्हारी सहायता करेंगे तब तुम्हारा संकट दूर होगा। किष्किन्धाकाण्डमें (वाल्मी० रा० में श्रीलक्ष्मणजीने हनुमान्‌जीसे यही कहा है। यथा—'**लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति॥ पिता यस्य पुरा ह्यासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः। तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः॥ सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा। गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः॥'''शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते। कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं हरियूथपः॥**' (४। १८—२४) अर्थात् जो पहले लोकनाथ रह चुके हैं वे सुग्रीवको नाथ बनाना चाहते हैं। जिनके पिता सब लोकोंके शरण्य और धर्मवत्सल थे, वे सुग्रीवकी शरणमें आये हैं। जो सर्वलोकोंके शरण्य थे वे राघव सुग्रीवकी शरणमें आये हैं। ऐसे शोकाभिभूत और शोकार्त्त रामके शरण आनेपर सुग्रीवको चाहिये कि सेनापतियोंके साथ उनपर कृपा करें। इस भाँति शापका साफल्य दिखाया। (वि० त्रि०) पुनः भाव कि

तुमने हमारा स्त्रीहरणरूपी अपकार किया। तुम्हारी स्त्रीको राक्षस हरेंगे, जिनको हमने राक्षस होनेका शाप दिया है। तुम्हारी स्त्रीको हरण करनेके लिये हमने पहले ही राक्षस बना दिये हैं। स्त्रीके हरणसे हमें दु:ख हुआ, हमारी छाती जलती है। वैसे ही तुम दु:खित होगे। स्त्रीका हरण भारी अपकार है। आततायी छ: प्रकारके माने गये हैं; उनमेंसे परदारापहरण भारी आततायी-कर्म है।]

टिप्पणी—२ पूर्व तीन बातें कहीं। इन तीनोंको यहाँ चरितार्थ करते हैं—

(१)*'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू॥'* अत: *'बंचेहु मोहि'* कहा।

(२)*'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥'* इसीसे *'कपि आकृति तुम्ह'''।'*

(३)*'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥'* इसीसे *'मम अपकार कीन्ह तुम्ह'''।'*

टिप्पणी—३ भगवान्‌ने नारदकी प्रथम *'कपि आकृति'* की, उनको बन्दरका रूप दिया तब राजा बनकर उनको *'बंचेउ'* (ठगा), परंतु यहाँ शाप देनेमें क्रम आगे-पीछे हो गया। अर्थात् पहले नरतन धरनेका शाप दिया तब बन्दरोंका सहायक होना कहा। इसी तरह अवतारके क्रममें प्रथम *'नारिबिरह'* है तब वानरोंकी सहायतापर, यहाँ शापमें क्रम उलटा है। कारण यह है कि इस समय मुनिको 'अत्यन्त क्रोध' है इसीसे शाप क्रमसे नहीं है, व्यतिक्रम है। [शापका क्रम अवतारके अनुसार सरस्वती कहला रही है। जबतक नरतन न धरते, युद्ध ही कौन करता और बन्दर सहायक ही कैसे होते? अतएव प्रथम नरतन धरना कहा तब कपिका सहायक होना। (मा० पी० प्र० सं०)]

टिप्पणी—४ (क) *'श्राप सीस धरि'* इति। भगवान् संतको अपनेसे अधिक मानते हैं। बड़ोंके वचन सिरपर धारण किये जाते हैं, यथा—*अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी।'* (१। ७७। ४)*'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।'* (१। ७७। २) *'चले सीस धरि राम रजाई'।* इसीसे भगवान्‌ने मुनिके शापको शिरोधार्य किया। अर्थात् आदरपूर्वक अङ्गीकार किया। यदि शापको शिरोधार्य न करते तो नारदजी प्राण दे देते, ब्रह्महत्या लगती, वे प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं—*'देहौं श्राप कि मरिहौं जाई।'* (ख) *'हरषि हिय'* इति। हृदयमें हर्षित हैं, क्योंकि शाप अपनी इच्छाके अनुकूल है। [पुन:, भाव कि यह आपका सहज स्वभाव है, आप सदा प्रसन्नवदन रहते हैं; यथा—'**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदु:खत:। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य**'''॥' (२ मं० श्लो० २) दूसरे, लीलाका साज अब पूरा-पूरा बन गया; अतएव *'हरषि हिय श्राप सीस धरि'* लिया। (मा० पी० प्र० सं०) तीसरे, आज्ञा शिरोधार्य करनेमें हर्ष होना ही चाहिये। पंजाबीजीका मत है कि हर्ष यह समझकर है कि—(१) किसीके वर या शापसे हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। अथवा, (२) इनको काम और क्रोधको जीतनेका अभिमान था सो अब काम और क्रोधसे उनकी क्या दशा हो रही है, इसीपर ये इतने भूले थे। अथवा, (३) हमने इनकी जितनी हँसी करायी उससे अधिक इन्होंने हमें शाप दे डाला, अत: हम अब इनके ऋणी नहीं रह गये। अथवा, (४) यह हमारे परम भक्त हैं। इन्हें अहंकाररूपी पिशाचने ग्रस लिया था, बहुत अच्छा हुआ कि थोड़ेहीमें वह निवृत्त हो गया। इससे यह भी दिखा दिया कि वस्तुत: प्रभु विस्मय और हर्षरहित हैं।](ग) *'प्रभु बहु बिनती कीन्हि'* इति। भाव कि आप *'प्रभु'* अर्थात् समर्थ हैं तो भी दासकी विनती करते हैं। ऐसा करना समर्थ एवं सामर्थ्यकी शोभा है। बहुत विनती यह कि आप ब्रह्मर्षि हैं, मैंने अपने कर्मका फल पाया जो आपने कहा था कि*'पावहुगे फल आपन कीन्हा'* सो सत्य है, आपका इसमें कुछ भी दोष नहीं है। [भगवान् एक अपने भक्तका ही मान करते हैं। देखिये, इतने कठोर वचनोंपर भी उन्होंने नारदका तिरस्कार न किया। (रा० प्र०)] नारदजीको बहुत क्रोध है, इसीसे उनको शान्त करनेके लिये बहुत विनती करनी पड़ी तब वे शान्त हुए। (घ) *'निज माया कै प्रबलता'''''* 'इति। मायाकी प्रबलताको खींच लेनेमें *'कृपानिधि'* विशेषण दिया; क्योंकि भगवान्‌की कृपासे ही माया छूटती है। यथा—*'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥'* (४। २१) *'सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु*

नाथ कहउँ पद रोपि॥' (७। ७१) (पुनः, *'कृपा निधि'* कहा, क्योंकि प्रभुने मायाको खींच लिया, इसने मुनिको बहुत सता रखा था, बहुत दुःख दिया था।) (ङ) *'निज माया बल देखि बिसाला।'* (१। ३२। ८) उपक्रम है और *'निज माया कै प्रबलता……'* उपसंहार है। (च) यद्यपि मुनि मायाके वश मूढ़ हैं तथा भगवान्‌की इच्छाके वश हैं तथापि उनकी भक्ति ऐसी दृढ़ है कि 'तू' 'तेरा' इत्यादि निरादरके शब्द उनके मुखसे नहीं निकले। [(छ) मुनिके हृदयसे मायाबल खींचकर उन्हें शुद्ध ज्ञान करानेमें 'परिवृत्ति' अलंकार की ध्वनि है। (वीरकवि) मायाकी प्रबलता खींच ली, माया नहीं खींची। पूरी माया खींच लेनेसे मोक्ष हो जाता है, लीला ही समाप्त हो जाती है। (वि० त्रि०)]

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा—'**स्त्रीकृते व्याकुलं विष्णो मामकार्षीर्विमोहकः। अन्वकार्षीस्स्वरूपेण येन कापट्यकार्यकृत॥ तद्रूपेण मनुष्यस्त्वं भव तद्दुःखभुग्घरे। यन्मुखं कृतवान्मे त्वं ते भवन्तु सहायिनः॥ त्वं स्त्रीवियोगजं दुःखं लभस्व परदुःखदः।**''॥''**विष्णुर्जग्राह तं शापं**''।' (१५—१८) (अर्थ सरल है। शिवपुराणमें शिवजीकी मायासे नारदका मोहित होना और शिवजीका अपनी उस मायाका खींच लेना कहा है।)

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥ १॥
तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना॥ २॥
मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥ ३॥
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे॥ ४॥

शब्दार्थ—'**निवारी**'=हटा दी। '**पाहि**' (सं०)=रक्षा करो।

अर्थ—जब भगवान्‌ने मायाको दूर कर दिया (तब) वहाँ न रमा ही रह गयी और न राजकुमारी ही॥ १॥ तब अत्यन्त सभीत हो मुनिने भगवान्‌के चरण पकड़ लिये (और बोले) हे शरणागतके दुःखोंको हरनेवाले! मेरी रक्षा कीजिये॥ २॥ हे कृपालु! मेरा शाप झूठा (व्यर्थ) हो जाय। दीनदयाल भगवान् बोले कि हमारी ऐसी ही इच्छा है॥ ३॥ मुनि (फिर) बोले कि मैंने बहुत दुर्वचन कहे, मेरे पाप कैसे मिटेंगे?॥ ४॥

व्याकरण—'**होहु, होउ**'=होवे, विधिक्रिया, यथा—'**जाहु, जाउ**'=जावे, '**जरउ, जरहु**'=जले। इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)

श्रीलमगोड़ाजी—प्रहसनमें हास्यचरितसे कुकडूँ-कूँ बुला ली गयी, मानो जी० पी० श्रीवास्तवजीका हास्यसूत्र चरितार्थ हो गया। मगर मजा यह कि हमारी सहानुभूति नारदसे पूर्णतया चली नहीं गयी और जीत भी बिलकुल एकाङ्गी नहीं है।

टिप्पणी—१ *'जब हरि माया दूरि निवारी'* इति। निवारण किया मायाको पर वहाँ साक्षात् लक्ष्मीजी भी न रह गयीं। रमा और राजकुमारी दोनोंके न रहनेका भाव यह है कि यदि दोनों वहाँ रहतीं तो माया न कहलातीं, क्योंकि मायाको तो भगवान्‌ने दूर ही कर दिया। तात्पर्य कि भगवान् जब (भक्तके हृदयसे) मायाको दूर कर देते हैं तब लक्ष्मी और स्त्री (कञ्चन, कामिनी) दोनों दृष्टिमें नहीं रह जातीं। पुनः, भाव कि जब माया दूर की तब नारदके हृदयसे माया निकल गयी, बाहर रमा और राजकुमारी देख पड़ती थीं सो भी न रहीं। (पण्डितजीका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि ये लक्ष्मी भी असली लक्ष्मी न थीं, केवल नारदजीका क्रोध भड़कानेके लिये राजकुमारीकी तरह वे भी मायाकी ही थीं।)

नोट—१ यहाँ लोग यह प्रश्न करते हैं कि 'मायाके साथ रमाजीको क्यों हटा दिया?' इसका समाधान यों करते हैं कि 'दोनों बनी रहतीं तो समझा जाता कि जिस मायाको निवारण किया वह और कोई माया है; सो नहीं। ये दोनों ही मायाके विशेष रूप हैं। (पंजाबीजी) लक्ष्मीके दो स्वरूप हैं। १—चेतन, स्त्रीरूप। २—जड़, मणि-मुक्ता-सम्पत्ति आदि। नारदको चेतन और जड़ दोनों मायाओंसे निवृत्त किया। रामभक्त श्रीरामजीकी कृपासे दोनोंका त्याग करते हैं। त्याग कैसे करते हैं और उसका चिह्न क्या है सो दिखाते हैं। यथा—*'काम क्रोध मद लोभ कै जब लगि मनमें खानि। तब लगि मूरख पंडितहु दोनों एक*

समान॥', 'जननी सम जानहिं पर नारी। धन पराय बिष ते बिष भारी॥' जब वृत्ति ऐसी हो जाय तब जानो कि रामकृपा हुई। चिह्न यह है कि धन आदि आया तो उसे परमार्थमें लगा दिया, पास नहीं रखा। (प्र० सं०) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि वहाँ रमा और राजकुमारी पहिले भी न थीं, पर मायाके बलसे मुनि उनको प्रभुके साथ देखते थे।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'जब भगवान् कृपा करके अज्ञान दूर करते हैं, जीव रमाजीको भगवान्‌से अभिन्न तत्त्वरूपमें और विद्या मायाको उनकी कृपात्मक इच्छारूपमें पाता है। अतः ये दोनों उनसे भिन्न नहीं रह जातीं।'

टिप्पणी—२ ***'तब मुनि अति सभीत हरि चरना।'''''''*** इति। (क) यहाँ नारदजीके मन, तन और वचन तीनोंका हाल कहते हैं। मनसे सभीत हुए, तनसे चरण पकड़े और वचनसे ***'पाहि प्रनतारति हरना'*** कहा। इस तरह मन, कर्म और वचन तीनोंसे शरणागति दिखायी। (ख) 'तब' अर्थात् मायाके दूर करनेपर। जब माया दूर हुई तब क्रोध और वैर भी चित्तसे निकल गये (क्योंकि ये सब मायाके परिवार हैं। मायाके दूर होनेपर जीवको अपने कर्मोंका भय उत्पन्न होता है, उसे अपना अपराध समझ पड़ता है), नारदमुनिको अपना अपराध समझ पड़ा तब वे प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े। (ग) मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा कहकर साष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया। [आठों अङ्गोंसे जो प्रणाम किया जाता है उसे साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। वे आठ अङ्ग ये हैं—जानु, पद, हाथ, उर, सिर, वचन, दृष्टि (कर्म) और मन (बुद्धि)। कोई-कोई नासिकाको एक अङ्ग मानते हैं।]

टिप्पणी—३ ***'मृषा होउ मम श्राप कृपाला।'''''*** इति। (क) अपने शापके व्यर्थ होनेकी प्रार्थना करते हैं, इससे जनाया कि अपनी वाणी व्यर्थ कर देनेका सामर्थ्य नारदमें नहीं है, यथा—***'झूठि न होइ देवरिषि बानी।', 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा।'*** (६८। ७,४) भगवान्‌को सामर्थ्य है। वे शापको न स्वीकार करके उसे व्यर्थ कर सकते हैं, जैसे दुर्वासा और भृगुजीके शापको व्यर्थ कर दिया था। इसीलिये नारदजी भगवान्‌से विनय करते हैं। (ख) ***'कृपाला'*** का भाव कि हमपर यही कृपा कीजिये कि मेरा शाप मिथ्या हो जाय। पुनः, भाव कि हमने शाप दिया, दुर्वचन कहे तब भी आपके मनमें क्रोध न आया, आप विनय ही करते रहे ऐसे कृपाल हैं। (ग) ***'मम इच्छा कह दीनदयाला'।*** भाव कि तुम भय न करो। नारदजी अपनी करनी समझकर दीन हो रहे हैं, उनपर आपने कृपा की, ***'मम इच्छा'*** कहकर उनको संतोष किया।

नोट—२ (क) यहाँ भगवान्‌की कृपाको सर्वोपरि दिखा रहे हैं। यथा—***'तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहु नाहीं॥'*** (२। २५६) (वसिष्ठवाक्य) (ख) ***'मम इच्छा'*** का भाव यह है कि 'हम शाप न मिटने देंगे। यह सब हमारी इच्छासे हुआ, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है।' हम सत्यसंकल्प हैं, हमारी इच्छा व्यर्थ नहीं हो सकती। पुनः इस कथनमें यह भी आशय है कि शाप न स्वीकार करनेसे नारदमुनिका वचन असत्य हो जाता, उनके शाप एवं आशीर्वादको फिर कोई प्रमाण नहीं मानता, उनका ऋषित्व ही मिट जाता। प्रभु भक्तवत्सल हैं, कृपालु हैं, अतः वे मुनिका वचन व्यर्थ करके उनका अहित नहीं करेंगे। इसीसे ***'मम इच्छा'*** कहकर उनको सन्तुष्ट कर रहे हैं। (ग) ***'दीनदयाला'*** का भाव कि रुद्रगणोंको निशाचर होनेका शाप हो चुका है। वे शापसे दीन हैं। नारदशापको स्वीकार न करनेसे रुद्रगणका उद्धार न हो सकेगा। अतः नारदके उस शापको भी सत्य तथा रुद्रगणोंका उद्धार करनेके विचारसे वक्ताओंने 'दीनदयाल' विशेषण दिया। (पं०) (घ) ***'मृषा न होइ देवरिषि भाषा'*** (६८। ४) को प्रभुने अपने ऊपर भी चरितार्थ कर दिखा दिया। (मा० पी० प्र० सं०) (ङ) ***'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान।'*** (१२७) उपक्रम है और ***'मम इच्छा''''''*** उपसंहार है।

टिप्पणी—४ ***'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे'''''*** इति। (क) भाव कि शाप तो आपकी इच्छासे हुआ तो हुआ, पर मैंने जो दुर्वचन बहुत-से कहे यह तो मेरा पाप है, यह कैसे मिटेगा? ☞ नारदके ऊपर काम और क्रोधका बल हो चुका है। ***'कामके केवल नारि'*** सो 'नारी' न रह गयी—***'नहिं तहँ रमा न राजकुमारी'***

और *'क्रोधके परुष बचन बल'* वह भी अब न रह गया। इसीसे कठोर वचन कहनेका पश्चात्ताप हो रहा है। शाप मिथ्या होनेकी प्रार्थना की, भगवान्‌ने उसमें अपनी इच्छा कहकर उनका बोध कर दिया। दुर्वचन कहे सो इस पापके मिटनेकी प्रार्थना की तब उसके लिये प्रायश्चित्त बताते हैं, यह क्यों? इसमें भाव यह है कि भगवान् भक्तके वचनोंको नहीं मेटते, उसके पापको अवश्य मेट देते हैं। इसीसे शापको न मिटाया, दुर्वचनोंके पापका प्रायश्चित्त बताया। ☞ शापके विषयमें जब *'मम इच्छा'* यह भगवान्‌ने कहा तब नारदने कहा कि *'पाप मिटिहि किमि मेरे।'* इससे पाया गया कि दासके पाप करनेमें भगवान्‌की इच्छा नहीं है, पाप प्रारब्धवश होते हैं। [जीव अपनी प्रवृत्तिसे ही पापकर्म करता है। यथा—*'तुलसी सुखी जो राम सों दुखी सो निज करतूति।'* (दोहावली ८८) इसीसे उसका प्रायश्चित्त बताते हैं, उसमें अपनी इच्छा नहीं कहते।]

नोट—३ **दुर्बचन**=कुवचन, गालियाँ, बुरे वचन। '**बहुतेरे**'—एक पूरे दोहेमें इनके दुर्वचन हैं। *'पर संपदा सकहु नहिं देखी'* (१३६। ७) से *'पावहुगे फल आपन कीन्हा'* (१३७। ५) अथवा *'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी॥'* (८) तक।

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा—'**अपतत्पादयोर्विष्णोर्नारदो वैष्णवोत्तमः॥ हर्य्युपस्थापितः प्राह वचनं नष्टदुर्मतिः। मया दुरुक्तयः प्रोक्ता मोहितेन कुबुद्धिना॥ दत्तश्शापोऽपि ते नाथ वितथं कुरु तं प्रभो।**'....'**कमुपायं हरे कुर्यां दासोऽहं ते तमादिश। येन पापकुलं नश्येन्निरयो न भवेन्मम॥** (रुद्रसं० २। ४। २२—२५) अर्थात् तब नारदजी भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। उन्होंने उठाकर मुनिको बिठाया। नारदजी बोले—मैं बड़ा ही कुबुद्धि हूँ, मैंने बहुत खोटे वचन कहे हैं। मेरे दिये हुए शापको आप मिथ्या कर दीजिये। मैं आपका दास हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं क्या उपाय करूँ, जिससे मेरे पापसमूह नष्ट हो जायँ, मुझे नरक न हो।

जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा॥ ५॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥ ६॥

अर्थ—(भगवान्‌ने कहा कि) शंकर-शतनाम (शंकरशतक) जाकर जपो। (उससे) हृदय तुरत शान्त हो जायगा॥ ५॥ शिवजीके समान मुझे कोई प्रिय नहीं है, यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ना॥ ६॥

श्रीलमगोड़ाजी—नारदजीकी नैतिक चिकित्सा पूर्ण हो गयी। पश्चात्तापके होते ही अहंकार मिट गया। भगवान्‌ने एक सरल उपायसे उनका उद्धार करा दिया। इलाज कितना अच्छा और पक्का है। टैगोरजी सत्य कहते हैं कि भगवान् हमें कभी-कभी बड़े इनकारसे सीख देते हैं, नहीं तो कुपथ्य पाकर हमारे रोग बढ़ते ही जायँ। शंकरजीके नामजपका रहस्य यह है कि वे ही 'कामारि' हैं।

नोट—१ *'जपहु जाइ संकर सत नामा'* इति। (क) शंकरशतनामसे शंकरशतक अभिप्रेत है। जैसे 'विष्णुसहस्रनाम', 'गोपालसहस्रनाम', 'श्रीसीतासहस्रनाम' और 'रामसहस्रनाम' इत्यादि हैं, वैसे ही 'शंकर-शतनाम' (शंकरशतक) है। शिवपुराणमें ब्रह्माजीने नारदजीको इस शतनामका उपदेश दिया है और लिङ्गार्चनतन्त्रमें स्वयं शिवजीने अपने शतनाम पार्वतीजीसे कहे हैं और अन्तमें उसका फल भी कहा है। (पूर्वसंस्करणमें, जो सन् १९२४, संवत् १९८२ में प्रकाशित हुआ; शंकरजीके शतनाम न देकर मैंने केवल ग्रन्थोंके नाम दे दिये थे। उनको देखकर कतिपय प्रेमियोंने मुझे पत्र लिखकर पूछा। अतएव वे शतनाम यहाँ उद्धृत किये गये हैं) **शिवलिङ्गार्चनतन्त्रे शिव-पार्वतीसंवादे—**

श्रीपार्वत्युवाच—इदानीं श्रोतुमिच्छामि शिवस्य शतनामकम्।

श्रीसदाशिव उवाच—'.....मम नाम पराराध्यं तथैव कथितं मया॥ ५॥ तेषां मध्ये सहस्रं तु सारात्सारं परात्परम्। तत्सारं तु समुद्धृत्य शृणु मत्प्राणवल्लभे॥ ६॥ मम नामशतं चैव कलौ पूर्णफलप्रदम्। केवलं स्तवपाठेन मम तुल्यो न संशयः॥ ७॥ पीठादिन्याससंयुक्तं ऋष्यादिन्यासपूर्वकम्। देवताबीजसंयुक्तं शृणुयात्परमाद्भुतम्॥ ८॥ नारदश्च ऋषिः प्रोक्तोऽनुष्टुप् छन्दः प्रकीर्तितः। सदाशिवो महेशानो देवता परिकीर्तिता॥ ९॥ षडक्षरं महाबीजं चतुर्वर्गप्रदायकम्। सर्वाभीष्टप्रसिद्ध्यर्थं विनियोगः प्रकीर्तितः॥ १०॥ ॐ महाशून्यो महाकालो महाकालयुतः सदा। देहमध्ये महेशानि

लिङ्गाकारेण वै स्थितः॥ ११॥ मूलाधारे स्वयम्भूश्च कुण्डली शक्तिसंयुतः। स्वाधिष्ठाने महाविष्णुस्त्रैलोक्यं पालयेत् सदा॥ १२॥ मणिपूरे महारुद्रः सर्वसंहारकारकः। अनाहदे ईश्वरोऽहं सर्वदेवैर्निषेवितः॥ १३॥ विशुद्धाख्ये षोडशारे सदाशिव इति स्मृतः। आज्ञाचक्रे शिवः साक्षाच्चिद्रूपेण हि संस्थितः॥ १४॥ सहस्रारे महापद्मे त्रिकोणनिलयान्तरे। बिन्दुरूपे महेशानि परमेश्वर ईरितः॥ १५॥ वास्वरूपे महेशानि नानारूपधरोऽप्यहम्। कल्पान्तज्योतिरूपोऽहं कैलासेश्वरसंज्ञकः॥ १६॥ हिमालये महेशानि पार्वतीप्राणवल्लभः। काश्यां विश्वेश्वरश्चैव वानेश्वरस्तथैव च॥ १७॥ शम्भुनाथश्चन्द्रनाथश्चन्द्रशेखरः पार्वति। आदिनाथः सिंधुतीरे कामरूपे वृषध्वजः॥ १८॥ नेपाले पशुपतिश्चैव केदारे परसीश्वरः। हिंगुलायां कृपानाथो रूपनाथस्तदोद्धकः ॥ १९॥ द्वारकायां हरश्चैव पुष्करे प्रमथेश्वरः। हरिद्वारे महेशानि गङ्गाधर इति स्मृतः॥ २०॥ कुरुक्षेत्रे पाण्डवेशो वृन्दारण्ये च केशवः। गोकुले गोपनीपूज्यो गोपेश्वर इति स्मृतः॥ २१॥ मथुरायां कंसनाथो मिथिलायां धनुर्धरः। अयोध्यायां कृत्तिवासः काश्मीरे कपिलेश्वरः॥ २२॥ काञ्चीनगरमध्ये तु मन्नाम त्रिपुरेश्वरः। चित्रकूटे चन्द्रचूडो योगीन्द्रो विन्ध्यपर्वते॥ २३॥ बाणलिङ्गो नर्मदायां प्रभासे शूलभृत्सदा। भोजपुरे भोजनाथो गयायां च गदाधरः॥ २४॥ झारखण्डे वैद्यनाथो बल्केश्वरस्तथैव च। वीरभूमौ सिद्धिनाथो राढे च तारकेश्वरः॥ २५॥ घण्टेश्वरश्च देवेशि रत्नाकरनदीतटे। गङ्गाभागीरथीतीरे कपिलेश्वर इतीरितः॥ २६॥ भद्रेश्वरश्च देवेशि कल्याणेश्वर एव हि। नकुलेशः कालिघाटे श्रीहटे हाटकेश्वरः॥ २७॥ अहंकोचवधूपूरे जयेश्वर इतीरितः। उत्कले विमलाक्षेत्रे जगन्नाथो ह्यहं कलौ॥ २८॥ नीलाचलारण्यमध्ये भुवनेश्वर इतीरितः। रामेश्वरः सेतुबन्धे लंकायां रावणेश्वरः॥ २९॥ रजताचलमध्ये तु कुबेरेश्वर इतीरितः। लक्ष्मीकान्तो महेशानि सदा श्रीशैलपर्वते॥ ३०॥ अम्बको गोमतीतीरे गोकर्णे च त्रिलोचनः। बद्रिकाश्रममध्ये तु कपिनाथेश्वरो ह्यहम्॥ ३१॥ स्वर्गलोके देवदेवो मर्त्यलोके सदाशिवः। पाताले वासुकीनाथो यमराट् कालमन्दिरे॥ ३२॥ नारायणश्च वैकुण्ठे गोलोके हरिहरस्तथा। गन्धर्वलोके देवेशि पुष्पगन्धेश्वरो ह्यहम्॥ ३३॥ श्मशाने भूतनाथश्च गृहे चैव जगद्गुरुः। अवतारः शंकरोऽहं विरूपाक्षस्तथैव च॥ ३४॥ कामिनीजनमध्ये तु कामेश्वर इति स्मृतः। चक्रमध्ये कुलश्चैव सलिले वरुणेश्वरः॥ ३५॥ आशुतोषो भक्तमध्ये शत्रूणां त्रिपुरान्तकः। शिष्यमध्ये गुरुश्चाहं तथैव परमो गुरुः॥ ३६॥ चन्द्रलोके सोमनाथः स्वर्भानुर्भानुमण्डले। त्रैलोक्ये लोकनाथोऽहं रुद्रलोके महेश्वरः॥ ३७॥ समुद्रमथने काले नीलकण्ठस्त्रिलोकजित्। जम्बुद्वीपे जगत्कर्त्ता शाकद्वीपे चतुर्भुजः॥ ३८॥ कुशद्वीपे कपर्द्दीशः क्रौञ्चद्वीपे कपालभृत्। मणिद्वीपे मीननाथः प्लक्षद्वीपे शशीधरः॥ ३९॥ अहं च पुष्करद्वीपे पुरुषोत्तम इतीरितः। वेदमध्ये वासुदेवो गुरुमध्ये निरञ्जनः॥ ४०॥ पुराणे परमेशानि व्यासेश्वर इतीरितः। आगमे नागमध्येऽहं निगमे नागरूपधृक्॥ ४१॥ सर्वज्ञो ज्योतिषां मध्ये योगीशो योगशास्त्रके। दीनमध्ये दीननाथो नाथनाथस्तथैव च॥ ४२॥ राजराजेश्वरश्चैव नृपाणां नगनन्दिनि। परं ब्रह्म सत्यलोके ह्यनन्तश्च रसातले॥ ४३॥ आब्रह्मस्तम्भमध्ये तु लिङ्गरूपो ह्यहं प्रिये। इति ते कथितं देवि मम नामशतोत्तमम्॥ ४४॥'

यहाँतक शंकरशतनाम हैं। आगे १९ (उन्नीस) श्लोकोंमें इसके पाठका माहात्म्य कहा है—

पठनाच्छ्रवणाच्चैव महापातककोटयः। नश्यन्ति तत्क्षणाद् देवि सत्यं सत्यं न संशयः॥ ४५॥ अज्ञानिनां ज्ञानसिद्धिर्ज्ञानिनां परमं धनम्। अतिदीनदरिद्राणां चिन्तामणिस्वरूपकम्॥ ४६॥ रोगिणां पापिनां चैव महौषधि इति स्मृतः। योगिनां योगसारं च भोगिनां भोगमोक्षदः॥ ४७॥ इत्यादि। (मा० त० वि० से उद्धृत)

नारद उवाच-काशीनाथश्शिवस्स्वामी कन्दर्पघ्नस्तु शंकरः। भूपतिर्भूतनाथश्च भूसुरप्रतिपालकः॥ १॥
भगवान् भूतसङ्गी च भालज्योतिर्निरञ्जनः। अन्धकासुरहा शम्भुर्दक्षयज्ञविनाशनः॥ २॥
देवादिर्देवयोगीशो नागभूषणदुःखहा। भस्मापेतो भवानीशो भावनो भक्तिभाजनः॥ ३॥
विश्वरूपी चिदानन्दः अनादिः पुरुषोत्तमः। जगन्नाथो निराकारः पुरध्वंसन ईश्वरः॥ ४॥
नागचर्माम्बरं धृत्वा जटाधारी जगत्पतिः। जानकीनाथमित्रं च शृङ्गी शङ्खसदाप्रियः॥ ५॥
पद्मासनः शिवार्द्धाङ्गी डमरूमुखरप्रियः। वृषध्वजो दयाधीशो भूतकर्ता करामलः॥ ६॥
नीलकण्ठो निजानन्दो निश्चलो निर्मलश्शिवः। वामदेवो महादेवो भस्मकर्ता तमोगुणः॥ ७॥

भृङ्गीशो वीरभद्रादिः सूर्यकोटिप्रभायुतः। तारकप्राणहन्ता च पिनाकी परमेश्वरः॥ ८॥
पद्माक्षोऽपि परब्रह्म रुद्रो दाता जगत्त्रयः। रावणाश्रयकर्त्ता च रावणारिवरप्रदः॥ ९॥
मस्तके बालचन्द्रोऽस्य शीर्षे गङ्गोदकं शुचि। पञ्चात्मा सुप्रकाशी च पञ्चबाणैकनाशनः॥ १०॥
मृगचर्मसुखासीनो मृगमदो गन्धगाहुकः। रुक्मकञ्चनदाता च रुक्मभूधरमालयम्॥ ११॥
वैद्यनाथश्च नन्दीशः कालकूटस्य भक्षकः। वाराणसीविलासी च पञ्चवक्त्रेश्वरो हरः॥ १२॥
हंससोमाग्निनेत्रश्च भस्मकर्त्ता तमोगुणः। सुगुरुः सुखदो नित्यं निरूपाक्षो दिगम्बरः॥ १३॥
चन्द्रशेखरसिद्धान्तः शान्तभूतः सनातनः। सर्वगः सर्वसाक्षी च सर्वात्मा च सदाशिवः॥ १४॥
योगेश्वरो जगत्त्राता जगज्जीवाधिपालकः। जानकीवल्लभपूज्यो रामेश्वरो जलाश्रयः॥ १५॥
श्मशानसदाक्रीडः कपाली करपन्नगः। विघ्नविध्वंसनो नाम बलिपुत्रवरप्रदः॥ १६॥
हृषीकार्थप्रदस्सिद्धिर्ज्योतीरूपो महेश्वरः। शंकरे शतनामानि प्रणीतान्यादियामले॥ १७॥
सर्वकामप्रदो नित्यं प्रातरुत्थाय यः पठेत्। तस्य सर्वफलप्राप्तिः शिवश्चण्डः प्रसीदति॥ १८॥

इति श्रीब्रह्मयामले शंकरशतनामस्तोत्रं समाप्तम् (रा० बा० दा० रामायणीजीसे प्राप्त)

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीने शङ्करशतनामस्तोत्र यह दिया है—'अथ श्रीशिवाष्टोत्तरशतनाममहामन्त्रस्य आदिनारायणऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीसदाशिवो देवता श्रीसदाशिवप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः। वज्रदंष्ट्रं त्रिनयनं कालकण्ठमरिन्दमम्। सहस्त्रकरमत्युग्रं वन्दे देवमुमापतिम्॥ ॐ शिवो महेश्वरः शम्भुः पिनाकी शशिशेखरः। वामदेवो विरूपाक्षः कपर्दी नीललोहितः। शङ्करः शूलपाणिश्च खट्वाङ्गी विष्णुवल्लभः। शिपिविष्टोऽम्बिकानाथः श्रीकण्ठो भक्तवत्सलः। भवः शर्वस्त्रिलोकेशः शितिकण्ठः शिवाप्रियः। उग्रः कपाली कामारिरन्धकासुरसूदनः। गङ्गाधरो ललाटाक्षः कालकालः कृपानिधिः। भीमः परशुहस्तश्च मृगपाणिर्जटाधरः। कैलासवासी कवची कठोरस्त्रिपुरान्तकः। वृषाङ्को वृषभारूढो भस्मोद्धूलितविग्रहः॥ १५॥ सामप्रियः स्वरमयस्त्रयीमूर्तिरनीश्वरः। सर्वज्ञः परमात्मा च सोमसूर्याग्निलोचनः॥ १६॥ हविर्यज्ञमयः सोमः पञ्चवक्त्रः सदाशिवः। विश्वेश्वरो वीरभद्रो गणनाथः प्रजापतिः॥ १७॥ हिरण्यरेता दुर्धर्षो गिरीशो गिरिशोऽनघः। भुजङ्गभूषणो भर्गो गिरिधन्वा गिरिप्रियः॥ १८॥ कृत्तिवासा पुरारातिर्भगवान् प्रमथाधिपः। मृत्युञ्जयः सूक्ष्मतनुर्जगद्व्यापी जगद्गुरुः॥ १९॥ व्योमकेशो महासेनो जनकश्चारुविक्रमः। रुद्रो भूतपतिः स्थाणुरहिर्बुध्न्यो दिगम्बरः॥ १०॥ अष्टमूर्तिरनेकात्मा सात्त्विकः शुद्धविग्रहः। शाश्वतः खण्डपरशुरजः पाशविमोचकः॥ ११॥ मृडः पशुपतिर्देवो महादेवोऽव्ययः प्रभुः। पूषदन्तभिदव्यग्रो दक्षाध्वरहरो हरः॥ १२॥ भगनेत्रभिदव्यक्तः सहस्राक्षः सहस्रपात्। अपवर्गप्रदोऽनन्तस्तारकः परमेश्वरः। तारकः परमेश्वरः। इमानि दिव्यनामानि जप्यन्ते सर्वदा मया। नाम कल्पलतेयं मे सर्वाभीष्टप्रदायिनी। नामान्येतानि सुभगे शिवदानि न संशयः। वेद सर्वस्वभूतानि नामान्येतानि वस्तुतः॥ १५॥ एतानि यानि नामानि तानि सर्वार्थदान्यतः। जप्यन्ते सादरं नित्यं मया नियमपूर्वकम्॥ १६॥ वेदेषु शिवनामानि श्रेष्ठान्यघहराणि च। सन्त्यनन्तानि सुभगे वेदेषु विविधेष्वपि॥ १७॥ तेभ्यो नामानि संगृह्य कुमाराय महेश्वरः। अष्टोत्तरसहस्त्रं तु नाम्नामुपदिशत्पुरा। इति श्रीगौरीनारायणसंवादे शिवाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रं सम्पूर्णम्।'—(कहाँसे यह लिया इसका पता उन्होंने नहीं दिया है)।

मा० त० वि० में *'संकर सत नामा'* के और अर्थ ये दिये हैं—'शतरुद्री' वा 'शङ्करने जिस नामको सत माना है उसे' वा सत अर्थात् प्रशंसा जो शिवजीका नाम है 'ॐ नमः शिवाय' इत्यादि।

टिप्पणी—१ *'जपहु जाइ संकर सत नामा।.....'* इति। (क) शङ्करशतनाम जपवानेमें भाव यह है कि जब कोई भागवतापराध हो जाता है तो उसका प्रायश्चित्त भगवन्नामजपसे नहीं होता, किंतु भागवत-भजनसे, भक्तके शरण होनेसे ही वह पाप नष्ट होता है। इसके उदाहरण दुर्वासा ऋषि हैं (उन्होंने अम्बरीष महाराज परमभागवतका अपराध किया तब चक्रने महर्षिका पीछा किया, ब्रह्मा, शङ्कर एवं चक्रपाणिभगवान्की शरण जानेपर भी उनकी रक्षा न हुई। भगवान्ने स्पष्ट कह दिया कि अम्बरीषकी ही शरण जानेसे तुम्हारा दुःख छूट सकता है, अन्यथा नहीं। दुर्वासाजीको भक्तराज अम्बरीषकी शरण

जाना पड़ा। भागवत और भक्तमालमें कथा प्रसिद्ध है। देवर्षि नारदने भागवतापराध किया है। शङ्करजी परम भागवत हैं—**'वैष्णवानां यथा शम्भुः।'** (भा० १२। १३। १६) नारदजीने उनका उपदेश नहीं माना (किंतु उनमें ईर्ष्या और स्पर्धाकी भावना रखकर उनको प्रणाम भी न किया), इसीसे उन्हींका नाम जपनेको कहा। अपनेको दुर्वचन कहे इसका भी प्रायश्चित्त शङ्करशतनाम बताया। [भगवान्‌का स्वभाव है कि ***'निज अपराध रिसाहिं न काऊ।'*** (२। २१८। ४) ***'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।'*** (वि० २०६), ***'अपराध अगाध भए जन तें अपने उर आनत नाहिंन जू'*** (क० ७। ७) अतएव अपनेको कहे हुए दुर्वचनोंको तो वे दृष्टिमें लाते ही नहीं। परंतु ***'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥'*** (२। २१८। ५) इन्होंने परम भक्त श्रीशङ्करजीका अपराध किया है, इसलिये मुनिके ***'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे।'''''पाप मिटिहि किमि मेरे'*** इन वचनोंके उत्तरमें भी वे ***'जपहु जाइ संकर सत नामा'*** यही प्रायश्चित्त कह रहे हैं। यह कहकर वे नारदजीको संकेतसे बता रहे हैं कि वस्तुतः तुमने शङ्करजीका अपराध किया है, जो अक्षम्य है, अतः तुम यह प्रायश्चित्त करो। (शिव पु० में भगवान्‌ने यही कहा है। यथा—**'यदकार्षीश्शिववचो वितथं मदमोहितः। स दत्तवानीदृशं ते फलं कर्मफलप्रदः।'** (रुद्र सं० २। ४। २९) अर्थात् मदसे मोहित होकर तुमने जो शिवजीके वचनोंको नहीं माना उसीका फल कर्मफलदाताने तुमको दिया। ***'जपहु जाइ संकर सत नामा'*** यथा—**'शतनामशिवस्तोत्रं सदानन्यमतिर्जप।'** (२। ४। ३७) अपने प्रति किये हुए अपराधको तो मैं अपराध गिनता ही नहीं, यदि तुम उसे अपराध मानते हो तो वह भी इसीसे छूट जायगा।]

(ख) ***'होइहि तुरत हृदय बिश्रामा'*** इति। ***'तुरत'''*** से शङ्करशतनामका माहात्म्य कहा। अर्थात् इससे जनाया कि भागवत-भजनका प्रभाव सद्यः होता है, उसका फल शीघ्र ही मिलता है। भगवान्‌को दुर्वचन कहनेसे नारदजीके हृदयमें संताप है, इसीसे हृदयको विश्राम होना कहा। पापसे विश्रामकी हानि होती है, पापोंके नष्ट होनेसे विश्राम मिलता है।

टिप्पणी—२ (क) ***'कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरें।'*** इति। भाव कि सभी जीव हमें प्रिय हैं, यथा—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाये।'*** (७। ८६। ४) पर शिवजी अपनी रामभक्तिसे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। यथा—***'पनु करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥'*** (१। १०४) (ख) ***'असि परतीति तजहु जनि भोरें।'*** इति। भाव यह कि तुमने ऐसी प्रतीतिको त्याग दिया था। इसीसे तुमने शङ्करजीके वचनोंका प्रमाण न माना, किंतु उनका अनादर किया। प्रतीतिके त्यागसे ये शिवभक्ति न करेंगे, क्योंकि ***'बिनु बिस्वास भगति नहीं'*** और शिवभक्ति बिना ये हमको प्रिय न होंगे, ऐसा विचारकर भगवान्‌ने ये वचन कहे कि कदापि ऐसा विश्वास न छोड़ना।

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥ ७॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई॥ ८॥
दो०—बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु तब भये अंतरधान।
सत्यलोक नारद चले करत राम गुन गान॥ १३८॥

अर्थ—हे मुनि! जिसपर त्रिपुरारि (शिवजी) कृपा नहीं करते, वह हमारी भक्ति नहीं पाता॥ ७॥ हृदयमें ऐसी धारणा करके पृथ्वीपर जाकर विचरते रहो। अब माया तुम्हारे निकट नहीं आवेगी॥ ८॥ बहुत तरहसे मुनिको समझा-बुझाकर तब प्रभु अन्तर्धान हो गये। नारदजी श्रीरामजीका गुण-गान करते हुए ब्रह्मलोकको चलते हुए॥ १३८॥

टिप्पणी—१ ***'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी।'''''*** इति। (क) कृपा न करनेमें 'त्रिपुरारी' नाम दिया। क्योंकि त्रिपुरपर कृपा न की थी। ***'जेहि पर'*** एकवचन देनेका भाव कि भक्ति पानेवाले कोई एक ही होते हैं, बहुत नहीं हैं, इसीसे बहुवचन ***'जिन्ह'*** न कहा, यथा—***'कोउ एक भाव भगति जिमि मोरी।'*** (४। १६) (ख) मिलान कीजिये—***'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि। संकरभजन***

बिना नर भगति न पावइ मोरि॥' (७। ४५) (ग) ☞ इन चौपाइयोंके क्रमका भाव यह है कि शङ्करनाम जपें तब शङ्कर कृपा करें तब हमारी भक्ति मिले, फिर हमारी भक्तिकी प्राप्ति होनेपर माया पास नहीं आती। अतः *'अब न तुम्हहि माया नियराई'* यह अन्तमें सबके पीछे कहा। (घ) *'अस उर धरि महि बिचरहु जाई'* इस कथनका भाव यह है कि दक्षशापके कारण नारदजी एक जगह नहीं ठहर सकते, अतः *'बिचरहु जाई'* कहा। (इससे यह भी जनाया कि भगवान् देवताओंके आशीर्वाद एवं शापको व्यर्थ नहीं करते। अतः कहा कि पूर्ववत् सर्वत्र विचरते रहना, क्योंकि इससे परोपकार होता रहेगा।) और सन्त अपने सुखसे पृथ्वीपर विचरते रहते हैं—*'फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥'* (१। २५) *'सब संत सुखी बिचरंति मही।'* (७। १४) (ङ) *'अस'* अर्थात् ऐसी धारणा रखकर कि शिवसमान कोई भगवान्को प्रिय नहीं है और बिना उनकी कृपाके श्रीरामजीकी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। (च) *'महि बिचरहु जाई'* अर्थात् विचर-विचरकर पृथ्वीपर भी लोगोंको इसका उपदेश करना। [सन्त परोपकारार्थ विचरा करते ही हैं, यथा—*'जड़ जीवन्ह को करै सचेता। जग माहीं बिचरत एहि हेता॥'* (वै० सं०। ९) तुम यह भी उपदेश देकर जगत्का उपकार करना।] (छ) *'अब न तुम्हहिं माया नियराई'*। भाव कि तुमने शङ्करजीकी भक्ति न की (उनके वचनोंको न माना, यही भक्ति न करना है, यथा—*'अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी'*) इसीसे माया तुम्हारे पास आयी, अब शङ्करनामजपसे हमारी भक्ति दृढ़ बनी रहेगी, इससे माया पास न फटक सकेगी। क्योंकि माया भक्तिसे डरती है, यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥'* (७। ११६। ५) (ज) 'मायाका नियराना' क्या है? मायाका व्यापना क्लेश है, यथा—*'बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि। अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥'* (२०२) पुनः यथा—*'माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि।'* (७। ८५) इत्यादि। भगवान् जिसकी माया दूर कर देते हैं, उसे फिर माया नहीं व्यापती, इसीसे वे कहते हैं कि *'अब न तुम्हहिं माया नियराई'*। *'नियराई'* से जनाया कि हमने माया दूर कर दी है, अब आगे कभी न पास फटकेगी। नियराना=पास जाना। [इसमें यह भी ध्वनि है कि जभी हृदयसे यह बात निकाल दोगे, तभी माया आ दबावेगी। भाव यह कि शंकरविमुख होनेसे भगवान् भी विमुख हो जाते हैं तब माया अच्छी तरह लथेड़ती है, इसीलिये भगवान् सावधान कर रहे हैं। (मा० पी० प्र० सं०)]

नोट—१ यह भगवान्का आशीर्वाद है।—*'तुलसी जेहि के रघुबीर से नाथ समर्थ सुसेवत रीझत थोरे। कहा भवभीर परी तेहि धौं बिचरै धरनी तिनसों तिन तोरें।'*—(क० उ० ४९)

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'नारदको तीन कारणोंसे मोह हुआ। १—विप्र (दक्ष) शाप मिथ्या करना, २-शिव अपमान, ३-शेषशय्यापर बैठना। प्रथम दोनोंका प्रतिफल पा गये, तीसरा अपराध जो स्वयं भगवान्का किया उसको उन्होंने क्षमा किया और स्वयं हाथ जोड़कर प्रबोध किया अर्थात् अपना ही दोष स्वीकार किया, पुनः बार-बार हृदयमें लगाकर बिदा किया।'

टिप्पणी—२ (क) *'बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु'* इति।—(१) शाप हमारी इच्छासे हुआ, (२) पाप मिटनेका प्रायश्चित्त बताया, (३) अपनी भक्तिका मूल जो शिवभक्ति है उसका उपदेश किया और, (४) यह कहा कि अब माया तुम्हारे पास न आवेगी, यही *'बहु बिधि'* का समझाना है। (ख) *'तब भये अंतरधान'* अर्थात् जब प्रबोध हो गया तब। अब सब काम पूरा हो गया, कुछ करनेको न रह गया, अतएव अब अन्तर्धान होनेका योग्य समय था। ☞ मायाको प्रेरित करनेसे सब कार्य हुआ। [*'श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥'*] (१२८। ८) उपक्रम है, वहाँसे मायाका प्रसङ्ग चला और *'श्राप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि'* तक उसकी कठिन करनीका वर्णन हुआ। सब कार्य मायाके द्वारा यहाँतक सम्पन्न हो गया तब *'निज माया कै प्रबलता करषि कृपा निधि लीन्हि।'* (१३७) यह उपसंहार है। मायाकी प्रबलताको खींच लिया, यहाँ मायाका नाट्य समाप्त हुआ, यही मानो 'ड्राप सीन' परदेका गिराना है। जब मायाको खींच लिया तभी आपको भी अन्तर्धान हो जाना था पर आपके उस समय अन्तर्धान हो जानेसे नारदके हृदयमें संताप बना रह जाता। स्वामीको

शाप दिया, अनेक दुर्वचन कहे, यह उनके हृदयको सदा संतप्त रखता, वे शान्ति न पाते, इसीसे नारदको उद्धारका उपाय बताकर, प्रबोध देकर उनका संताप दूर करके 'तब' अन्तर्धान हुए।

टिप्पणी—३ *'सत्यलोक नारद चले'* इति। (क) भगवान्‌ने तो आज्ञा दी थी कि *'महि बिचरहु जाई'* और नारद चले *'सत्यलोक'* को। इसका तात्पर्य यह है कि *'महि'* (पृथ्वी) सब लोकोंमें है, सब लोक बसे हुए हैं। ये प्रथम सत्यलोकवासियोंको उपदेश करके तब (रजोगुणी) मर्त्यलोक और (फिर तमोगुणी) पातालादि लोकोंके निवासियोंको क्रमशः उपदेश करेंगे। पुनः, भाव कि अपूर्व बात सुनकर उसे ब्रह्मलोकमें कहनेकी उत्कण्ठा हुई, यथा—*'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥'* (७। ४२) शिवजीकी भक्तिसे रामभक्ति प्राप्त होती है, यह बात नारदको जानी हुई न थी, इसीसे उन्होंने शिवजीमें प्रेम न किया था। यह समझकर कि यह बात किसीकी जानी हुई नहीं है, यदि जानी होती तो भगवान् यह कैसे कहते कि *'औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ'''''*'। अतएव उसे बतानेके लिये ब्रह्मलोकको गये। [अथवा, नारदको *'संकर सत नाम'* रूपी गुप्त पदार्थ मिला है, उसे जपनेके लिये 'सत्य' लोकको चले। अथवा, इनका स्वभाव है कि जब कोई अपूर्व पदार्थ पाते हैं तो पहले ब्रह्मलोकमें ही जाकर उसे प्रकट करते हैं, अतः वहीं प्रथम गये। पुनः, रुद्र सं० में भगवान्‌ने उनसे ब्रह्मलोकमें जाने और उनसे शिवजीकी महिमा पूछनेको कहा है और यह भी कहा है कि ये तुम्हें शङ्करजीके शतनामस्तोत्र बतायेंगे, यथा—**'ब्रह्मलोके स्वकामार्थं शासनान्मम भक्तितः।'''''स शैवप्रवरो ब्रह्मा माहात्म्यं शङ्करस्य ते। श्रावयिष्यति सुप्रीत्या शतनामस्तवं च हि।'** (२। ४, ७२—७४) अतः वहाँ गये।] (ख) *'चले करत राम गुनगान'* यह उपसंहार है, *'एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रबीना॥'* (१२८। ३) उपक्रम है। बीचमें मोहवश हो जानेसे हरिगुणगान छूट गया था। अब मोह-निवृत्त हो गया तब भगवान्‌में अनुराग उत्पन्न हुआ। अतएव पुनः गुणगान करते चले—*'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग'।*

नोट—२ यहाँ उपदेश है कि मायाके आवरणसे अपना स्वरूप भूल जाता है, भजन-पाठ सब छूट जाता है, महात्माओंका अनादर होने लगता है, मायाकी प्राप्तिके लिये अनेक यत्न किये जाते हैं। इन सबका फल केवल दुःखकी प्राप्ति है और कुछ हाथ नहीं लगता।—*'राम दूरि माया प्रबल घटति जानि मन माहिं'*— (दोहावली ६९)

* नारदमोहप्रसङ्गका अभिप्राय *

नारदको कामके जीतनेका अभिमान हुआ—*'जिता काम अहमिति मन माहीं'* तब शम्भु-ऐसे उपदेष्टाका उपदेश न अच्छा लगा।—*'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सुहान'।* उपदेश न लगनेसे उनको मायाकृत प्रपञ्च देख पड़ा—*'बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि'''''* इत्यादि। तदनन्तर माया देख पड़ी-*'आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि'* और वे उसे देखकर मोहित हो गये—*'बड़ी बार लगि रहे निहारी',* ज्ञान-वैराग्यको तिलाञ्जलि दे दी—*'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी'* और *'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने'।* मोहित हो जानेसे उनको मायाकी प्राप्तिकी चिन्ता हुई—*'नारद चले सोच मन माहीं',* और वे उसकी प्राप्तिका यत्न करने लगे *'करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥'* मायाके लिये यत्न करनेमें स्वरूप बदल गया, यत्न करनेमें हँसी और दुर्दशा हुई, ऐसा जान पड़ा कि विश्वमोहिनी मिलना ही चाहती है, यत्न न सिद्ध होनेसे व्याकुल हुए—*'मुनि अति बिकल मोहि मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी'॥* मायाके लिये ही भगवान्‌को शाप दिया, दुर्वचन कहे, उनसे विरोध किया। भगवान्‌की कृपासे मायाकी प्राप्ति न हुई। जब भगवान्‌ने कृपा की तब यह बात समझ पड़ी। ☞इस प्रसङ्गसे यह उपदेश दे रहे हैं कि अभिमानियों और मायासेवियोंकी ऐसी ही दुर्दशा होती है, यही उनकी दशा है।

हरगन मुनिहि जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेषी॥ १॥
अति सभीत नारद पहिं आए। गहि पद आरत बचन सुनाए॥ २॥

हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया॥ ३॥
श्राप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला॥ ४॥
निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**'अनुग्रह'**=अनिष्ट निवारण, दुःख दूर करनेकी कृपा। **श्राप अनुग्रह**=शापसे उत्पन्न अनिष्टका निवारण, यथा—***'संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल। साप अनुग्रह होइ जेहि नाथ थोरेही काल॥'*** (७। १०८)

अर्थ—शिवजीके गणोंने मुनिको मोहरहित और मनमें बहुत प्रसन्न रास्तेमें जाते देख॥ १॥ बहुत ही डरे हुए वे नारदजीके पास आये और उनके चरण पकड़कर दीन वचन बोले॥ २॥ हे मुनिराज! हम शिवजीके गण हैं, ब्राह्मण नहीं, हमने बड़ा भारी अपराध किया सो उसका फल पाया॥ ३॥ हे कृपालु! शाप-निवारणकी कृपा कीजिये। यह सुनकर दीनदयालु नारदजी बोले—तुम दोनों जाकर निशिचर होवो, तुम्हारा तेज, बल और ऐश्वर्य बहुत भारी होवे॥ ५॥

नोट—१ मिलानके श्लोक, यथा—**'अथ तं विचरन्तं कौ नारदं दिव्यदर्शनम्। ज्ञात्वा शम्भुगणौ तौ तु सुचित्तमुपजग्मतुः॥ शिरसा सुप्रणम्याशु गणावूचतुरादरात्। गृहीत्वा चरणौ तस्य शापोद्धारेच्छया च तौ॥ ब्रह्मपुत्र सुरर्षे हि शृणु प्रीत्यावयोर्वचः। तवापराधकर्तारावावां विप्रौ न वस्तुतः॥ आवां हरगणौ विप्र तवागस्कारिणौ मुने॥'''''स्वकर्मणः फलं प्राप्तं कस्यापि नहि दूषणम्। सुप्रसन्नो भव विभो कुर्वनुग्रहमद्य नौ॥ '''''वीर्या मुनिवरस्याप्त्वा राक्षसेशत्वमादशत्। स्यातां विभवसंयुक्तौ बलिनौ सुप्रतापिनौ॥** (रुद्र० सं० २। ५, ३-६, ८, १३)

टिप्पणी—१ (क) ***'हरगन मुनिहि जात पथ देखी'*** इति। नारद शाप देकर जलमें पुनः मुँह देखने चले गये थे, वहाँसे चले तो बीचमें भगवान्से भेंट हुई। रुद्रगण इनकी राह ताकते रहे कि कब इधर आवें और हम शापानुग्रहकी प्रार्थना करें। (ख) ***'बिगत मोह मन हरष बिसेषी'*** इति। भाव कि पूर्व जब नारदको देखा था तो मोहयुक्त और मनमें विषाद देखा था। वह समय शापानुग्रह करानेके योग्य न था। अब मनमें विशेष हर्ष है, मोह जाता रहा; अतः यह शापानुग्रहके लिये सुन्दर अवसर है। (ग) मनका हर्ष और मोह-विगत होना कैसे मालूम हुआ? इससे कि अब रामगुणगान करते देख रहे हैं—***'सत्यलोक नारद चले करत रामगुन गान।'*** जबतक मोह और विषादयुक्त रहे तबतक रामगुणगान नहीं किया।

टिप्पणी—२ (क) ***'अति सभीत नारद पहिं आए'*** इति। पूर्व 'भारी भय' पर ही रुद्रगणोंका प्रसङ्ग छोड़ा था—***'अस कहि दोउ भागे भयभारी।'*** 'भारी भय' से भागे थे, उसी भारी भयसे युक्त अब सामने आये। ***'अति सभीत'*** का भाव कि बड़ा भारी अपराध किया है इससे भारी भय है; सामान्य अपराध होता तो साधारण भय होता, ***'बड़ अपराध कीन्ह फल पाया।'*** [अथवा पहिले इन्होंने हँसी-मसखरी की थी, ***'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई'*** इससे भारी भय हुआ था कि मुँह देखनेपर शाप न दे दें, अतः ***'भागे भय भारी।'*** जब शाप दे दिया गया कि 'राक्षस हो' तब ***'अति सभीत'*** हो गये। (प्र० सं०) (ख) ***'गहि पद आरत बचन सुनाए'*** यथा—***'आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥ निज कृत कर्म जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ। सुनि कृपाल अति आरत बानी।'*** (३। २) पुनः यथा—(लं० २०)—***'आरतगिरा सुनत प्रभु अभय करहिंगे तोहि'*** इस प्रकार आर्त्त होकर बोले जिसमें वे कृपा करें। [मन, कर्म और वचन तीनोंसे मुनिकी शरण आ साष्टाङ्ग पड़ गये, यह बात 'आर्त वचन' में झलक रही है। ***'अति सभीत'*** यह मनकी दशा, ***'गहि पद'*** यह कर्म है और ***'आरत बचन सुनाए'*** यह वचन है।]

टिप्पणी—३ (क) ***'हरगन हम न बिप्र मुनिराया'*** इति। भाव कि महात्मा लोग निष्कपट, निश्छल वचन कहनेसे प्रसन्न होते हैं, इसीसे इन्होंने अपना छल-कपट खोल दिया कि हम विप्र नहीं हैं। और भगवान्ने महादेवजीको अति प्रिय बताकर शिवजीमें नारदजीकी निष्ठा करायी है, अतएव यह भी कहा कि हम हरगण हैं जिसमें शिवजीके नातेसे अवश्य हमपर कृपा करें। पुनः कदाचित् मुनिके मनमें ग्लानि हो कि हमने क्रोधवश हो ब्राह्मणोंको शाप दे दिया जैसे भगवान्को शाप देनेपर पश्चात्ताप हुआ था, अतः

उस ग्लानिको मिटानेके लिये कहते हैं कि हम हरगण हैं, इत्यादि; विप्र नहीं हैं। (ख) '*बड़ अपराध कीन्ह फल पाया*' इति। बड़ा अपराध जो किया और उसका फल पूर्व कह आये हैं, यथा—'*होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ। हँसेहु हमहिं सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ।*' (ब्राह्मणोंका अपमान करना बड़ा अपराध है, उसका फल राक्षस होना है); इसीसे यहाँ न कहा। [पुनः '*बड़ अपराध*' का भाव कि किसीपर कूट-मसखरी करना 'अपराध' है और संतोंसे, भागवतोंसे ऐसा करना 'बड़ा अपराध' है। '*फल पाया*' अर्थात् हरगणकी पदवी पाकर उससे च्युत होकर राक्षस होने जा रहे हैं।]

टिप्पणी—४ '*श्राप अनुग्रह करहु कृपाला*' इति। (क) शाप क्रोधसे होता है, यथा—'*बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥*' और कृपासे वही शाप अनुग्रह हो जाता है, इसीसे 'कृपाल' सम्बोधन दिया। [मिलान कीजिये—'*जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह कोप करि श्रापा॥ तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी॥*' (७। १०९) '*कृपाला*' का भाव यह भी है कि आप अपनी कृपासे शापको अनुग्रहरूप कर दीजिये, हमारी करनी ऐसी नहीं है कि वह अनुग्रहरूप हो जाय, अपनी कृपालुताकी ओर देखकर कृपा करें। यथा—'**स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीनानाथः।**' क्रोधका शाप दुःखरूप होता है, उसे आप अपनी कृपासे सुखरूप बना दीजिये। हरगण जानते हैं कि देवर्षिके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते, इसीसे वे केवल शापानुग्रहकी प्रार्थना करते हैं और नारदजीने किया भी ऐसा ही। शाप कायम रखा पर उनको विश्वविजयी बनाकर भगवान्‌के हाथ उनकी मृत्यु दी]। (ख) '*बोले नारद दीनदयाला*' इति। दया करना संतस्वभाव है, संतोंका धर्म है, यथा—'*कोमल चित दीनन्ह पर दाया।*' (७। ३८) नारदजी दीनोंपर दया किया करते हैं, यथा—'*नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥*' (३। २) इसीसे रुद्रगणोंको दीन देखकर उन्होंने दया की। 'बड़ा अपराध किया। उसका फल यह मिला कि देवतासे राक्षस हुए। अब राक्षसयोनिसे उद्धार आपकी कृपासे होगा'—ये दीन वचन हैं। (दीनदयालुता उनके शापानुग्रहसे आगे दिखाते हैं। प्रणाममात्रसे, '*गहि पद आरत बचन सुनावा*' इतने मात्रसे, उनको विश्वभरका राज्य और विपुल वैभवादि सब कुछ दे दिया। '*दीनदयाला*' शब्द साभिप्राय है। दीन वचन सुनकर दीनोंपर दया करनेवाला ही पिघल जाता है और आर्त्तके दुःखको दूर करता है। यहाँ 'परिकराङ्कुर अलंकार' है।)

टिप्पणी—५ (क) '*निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ*' इति। भाव कि हमने जो शाप दिया था कि '*जाइ निसाचर होउ तुम्ह कपटी पापी दोउ*' वह अन्यथा न होगा '*होइ न मृषा देवरिषि भाषा*' इसे प्रमाण करके आगे अनुग्रह करते हैं। '*जाइ होहु*' अर्थात् शरीर छूटनेपर निशाचर हो, यह बात '*भए निसाचर कालहि पाई*' से सिद्ध होती है जो आगे कहेंगे। (ख) '*बैभव बिपुल तेज बल होऊ*' अर्थात् राजाओंका वैभव, तेज और बल दिया। जो राजाको होना चाहिये। वह देकर आगे राजा होनेका वरदान देते हैं। 'बिपुल' शब्द देहलीदीपक है। विपुलका अर्थ आगे '*भुजबल बिस्व जितब*' देते हैं। ☞ (यह अनुग्रह है)। ☞ वैभव, रूप, तेज, बल और नीति ये पाँच अङ्ग राजाओंके अन्यत्र कहे हैं, यथा—'*सत सुरेस सम बिभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा॥*' (१३०। ३) इनमेंसे नारदने इनको तीन ही दिये। रूप और नीति इन दोका देना यहाँ नहीं कहा। क्योंकि राक्षसोंमें ये दोनों नहीं होते। राक्षस कुरूप और अन्यायी होते हैं, यथा—'*देखत भीमरूप सब पापी।*' (१८३। ३) '*बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।*' (१८३) '*करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।*' यदि वे नीतिसे चलें तो राक्षस ही क्यों कहलावें और तब भगवान्‌का अवतार क्यों होने लगा?

भुजबल बिस्व जितब* तुम्ह जहिआ। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥ ६॥
समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा॥ ७॥
चले जुगल मुनिपद सिर नाई। भए निसाचर कालहि पाई॥ ८॥

---

* १६६१ में 'जीतब' है।

दोहा—एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।
सुरंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबि भार॥१३९॥

शब्दार्थ—**जहिआ**=ज्यों ही, जब। **तहिआ**=तब। **संसारा**=आवागमन।

अर्थ—जब तुम अपनी भुजाओंके बलसे ब्रह्माण्डभरको जीत लोगे तब विष्णुभगवान् मनुष्य-शरीर धारण करेंगे॥६॥ तुम्हारी मृत्यु संग्राममें हरिके हाथोंसे होगी, तुम मुक्त हो जाओगे। फिर तुमको संसार न होगा अर्थात् जन्म-मरणसे छूट जाओगे॥७॥ दोनों गण मुनिको मस्तक नवाकर चले गये और काल पाकर निशाचर हुए॥८॥ देवताओंको आनन्द और सज्जनोंको सुख देनेवाले, पृथ्वीका भार-भञ्जन करनेवाले हरिभगवान्ने एक कल्पमें इस कारण मनुष्य-तन धारण किया॥१३९॥

टिप्पणी—१ (क) *'भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ'* अर्थात् तुम विश्वभरके राजा होगे। यथा—*'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र। मंडलीकमनि रावन राज करै निज मंत्र॥'* (१८२) वैभव, तेज, बल और विश्वका राज्य यह सब देकर उनका यह लोक बनाया। जब विश्वभरसे बल अधिक दिया तब यह भी निश्चय पाया जाता है कि उससे वैभव और तेज भी अधिक दिया है। ☞यहाँ विपुल बलको चरितार्थ करते हैं कि जब तुम विपुल बलसे विश्वको जीतोगे तब तुम्हारे पास विश्वभरका वैभव हो जायगा। (ख) *'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ'* इति। भगवान्की इच्छाके अनुकूल शाप हुआ है इसीसे कहते हैं कि *'धरिहहिं मनुज तनु।'* ['जहिआ' और 'तहिआ' से जनाया कि जिस दिन तुम विश्वको जीत लोगे उसी दिन विष्णु नररूपमें अवतीर्ण होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि इस कल्पमें रावणने बहुत दिनतक राज्य नहीं किया। (वि० त्रि०)] (ग) *'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा'* यह मरणकी उत्तमता कही। [संग्राममें मरना यह वीरोंकी शोभा है, यथा—*'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा॥'* (२। १९०) और फिर भगवान्के हाथसे तब उस मरणकी प्रशंसा क्या की जाय?] पुनः, 'हरिहाथ' मरणका भाव कि जब तुम विष्णुका अपराध करोगे तब वे मारेंगे। हरिहाथ मरण होनेसे *'होइहहु मुकुत'* कहा, यथा—*'रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।'* (घ) *'न पुनि संसारा'* का भाव कि एक ही शरीरके बाद मुक्ति हो जायगी, जय-विजयकी तरह पुनर्जन्म न होगा। ☞*'भुजबल बिस्व……'* से इहलोक बनाया और यहाँ *'होइहहु मुकुत……'* यह परलोक बनाया। (ङ) लोक और परलोक दोनों साधुकी कृपासे बनते हैं।

टिप्पणी—२ *'चले जुगल मुनिपद सिर नाई।'* तात्पर्य कि मुनिने अच्छी तरहसे शापानुग्रह कर दिया, अतः प्रणामसे कृतज्ञता एवं शिष्टाचार, सदाचार सूचित किया। (ख) यहाँ मुनिका चलना न कहा क्योंकि पूर्व लिख चुके हैं *'सत्यलोक नारद चले करत रामगुन गान।'* (मार्ग चलतेमें ही शापानुग्रह किया।) (ग) *'कालहि पाई'* । काल=समय।—मृत्यु। जैसे नारदने भगवान्से विनय की थी, वैसे ही रुद्रगणोंने नारदसे की। दोनोंके शापोद्धार-प्रसङ्गका मिलान यथा—

नारदजी	हरगण
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी	*१ हरगन मुनिहि जात पथ देखी*
तब मुनि अति सभीत हरिचरना	*२ अति सभीत नारद पहिं आए*
गहे पाहि प्रनतारतिहरना	*३ गहि पद आरत बचन सुनाए*
मृषा होउ मम श्राप कृपाला	*४ श्राप अनुग्रह करहु कृपाला*
मम इच्छा कह दीनदयाला	*५ बोले नारद दीनदयाला*

☞दोनों मन, कर्म और वचनसे शरण हुए और दोनोंने प्रणाम किया।

'कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे	*६ बड़ अपराध कीन्ह फल पाया*

☞भगवान्ने कृपा करके नारदको सन्तोष दिया वैसे ही नारदजीने हरगणोंको—

जपहु जाइ संकर सतनामा	*७ बैभव बिपुल तेज बल होऊ*

होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ८ *होइहहु मुकुत न पुनि संसारा*
सत्यलोक नारद चले ९ *चले जुगल मुनिपद सिर नाई*

टिप्पणी—३ (क) *'एक कलप एहि हेतु प्रभु'''* इति। एक-दो-तीन ऐसी गणना नहीं की, इसीसे सब जगह 'एक' 'एक' पद दिया है, यथा—*'एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा॥'*, *'एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥'*, *'एक कलप एहि हेतु''''''।'* तात्पर्य कि अनन्त कल्पोंमें भगवान्‌के अवतार हुए हैं इसीसे निश्चय नहीं है कि यह कल्प प्रथम है, यह दूसरा है, यह तीसरा है या क्या? इत्यादि। (ख) *'लीन्ह मनुज अवतार'* का भाव कि अन्य कल्पोंमें अन्य-अन्य (वराह, नृहरि, मत्स्य आदि) अवतार हुए हैं, परन्तु इनमें मनुष्य-अवतार ही हुआ है क्योंकि *'रावन मरन मनुज कर जाँचा।'* (ग) *'सुरंजन सज्जन सुखद हरि भंजनभुवि भार'* अर्थात् इसीसे मनुज-अवतार लिया। (घ) ☞नारदकल्पमें माता-पिताका नाम नहीं कहा गया। आगे आकाशवाणीद्वारा कहेंगे, यथा—*'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥''''''नारद बचन सत्य सब करिहौं॥'* इत्यादि १८७ (३-६)

☞नोट—१ श्रावणकुञ्जकी संवत् १६६१ की प्रतिमें इस प्रसङ्गमें 'कुअँरि' शब्द चार बार आया है पर दो बार 'अ' पर अनुस्वार है—*'जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलइ जयमाल।'* (१३१) *'सखी संग लै कुअँरि तब चलि जनु राजमराल।'* (१३। ४)' और दो बार 'अ' पर अनुस्वार नहीं है—*'रीझिहि राजकुअरि छबि देखी।'* (१३४। ४) *'कुअरि हरषि मेलेउ जयमाला।'* (१३५। ३) दोहोंमें अनुस्वार है, चौपाइयोंमें नहीं। और भी जो भाव इस भेदमें हो पाठक उसे विचारें।

नोट—२ किसी-किसीका यह मत है कि ये रुद्र गण (जो नारदशापसे निशाचर हुए) विश्वविजयी हुए, जैसे प्रतापभानु रावण होनेपर विजयी हुआ। क्योंकि नारदवचन असत्य नहीं होता। और कल्पोंमें जो रावण हुए वे कहीं-कहीं हारे भी हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—१ तुलसीदासजीकी प्रहसनकला बड़ी स्वाभाविक है, वहाँ कृत्रिम हास्यपात्रका पता नहीं जो हमेशा सरसे पैरतक हँसी ही उत्पन्न कराये। ऐसे हास्यपात्रसे उपदेश ही क्या मिलेगा?

२—तुलसीदासजीकी हास्यकलामें हास्यपात्रका हित होता है क्योंकि उसकी नैतिक चिकित्सा हो जाती है और साथ ही हमारा कौतुक हो जाता है।

३—इस प्रहसनका अन्तिम परदा बड़ी दूरपर जाकर खुला है। सीताहरणमें दुःखसे पीड़ित भगवान् जब पम्पासरोवरपर तनिक विश्राम करते हैं तब नारदजी पहुँचकर प्रश्न करते हैं कि हे भगवन्! आखिर आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया? उत्तर बड़ा मार्मिक है, इससे हम यहाँ उसकी आलोचना करनेके निमित्त उसे लिखे देते हैं जिसमें सब प्रसङ्ग साफ हो जायँ।

भगवान् कहते हैं—*'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।। करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहि पाछिलि बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥ दो०॥ काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥ ४३॥ सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥ जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी॥ काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका॥ दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥ धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा॥ पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहहि नारि सिसिर रितु पाई॥ पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥ बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥* दो०—*अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥'* ४४॥

आलोचना—(१) ज्ञान और भक्तिका मार्मिक अन्तर महात्माओंके शब्दोंमें आपको अपने स्थानपर

मिलेगा ही। मैं उसके स्पष्टीकरणका अधिकारी भी नहीं। मुझे तो यह दिखाना है कि कौतुकी भगवान्की प्रहसनलीला तथा तुलसीदासकी प्रहसनकलाका मूल स्रोत 'प्रेम' है, केवल 'मखौल' नहीं। (२) जो लोग देश, काल और पात्रका विचार नहीं रखते, जो नाटक-कलाकी व्याख्याके लिये आवश्यक है, वे बहुधा इन वाक्योंको तुलसीदासजीके स्त्री-जगत्के प्रति अन्यायरूपमें पेश किया करते हैं। इस प्रसङ्गकी विस्तृत व्याख्या मैं 'तुलसीदासजीके स्त्री-सम्बन्धी कटु वाक्योंकी व्याख्या' 'माधुरी' के एक लेखमें कर चुका हूँ। यहाँ संक्षेपमें इतना कहना काफी है कि नारद एक योगी और मुनि थे जो त्यागमार्गपर आरूढ़ थे। अतः भगवान्ने उन्हें श्री (स्त्री) का रूप और मायाका रूप एक ही बताया। परंतु उन्हीं रामने विश्वहितके लिये शिव-विवाह पार्वतीसे रचाया। स्वयं एकनारी-व्रत रखा और यही अपने रामराज्यका आदर्श स्थापित किया, इसी प्रसङ्गसे थोड़ी दूर आगे चलकर बालिको डाँटते हुए श्रीरामने कहा है—'*मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥*' क्या यहाँ और रावण-मंदोदरी-प्रसङ्गमें नारी उपदेशिका रूपमें नहीं है? तुलसीदासजी नारीकी उस रूपमें ही बुराई करते हैं जिसमें वह 'गुल खिलाती' चले और 'गुलछर्रे उड़ाते' आये और हमारे पतनका कारण बने, नहीं तो पतिव्रता स्त्री तथा मातारूपमें तो उन्होंने स्त्रीकी सदा प्रशंसा ही की है। खैर, अब नारदजीकी आखिरी अवस्थाका वर्णन देखिये '*सुनि रघुपतिके बचन सुहाए। मुनि तन पुलकि नयन भरि आए॥ कहहु कवन प्रभु कै यह रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥ जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥*' आपने देखा, इस अन्तिम दृश्यमें हास्यरस शान्तरसके ऊँची चोटीपर पहुँच गया। फिर मजाकका लुत्फ यह है कि हास्यपात्र हास्यकर्ताका अनुगृहीत हो जाय। वही दशा नारदकी अन्तिम पदोंमें वर्णित है जो भगवान्के कृतज्ञ होकर औरोंको भी भगवत्-भजनका उपदेश करते हैं।

इस क्रियात्मक हास्यका आनन्द आपको तब मिलेगा जब आप उन साधारण हास्य-प्रसङ्गोंपर विचार करेंगे जिनमें सालियाँ, सरहजें या भावजें अपने 'ललाजी' की सोते समय सेंदूर, टिकुली आदिसे सजावट कर देती हैं। 'ललाजी' जागते हैं पर अपनी दशासे अनभिज्ञ जिधर जाते हैं उधर ही कहकहा पड़ता है। जब किसी इशारेसे समझकर अपना मुँह शीशेमें देखते हैं तो झुझलाहटकी हद नहीं रहती। नारदको गति कुछ वैसी ही बनी और खूब बनी, फिर उम्रभर न भूले और मायाको पास न फटकने दिया।

एहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥ १॥
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥ २॥
तब तब कथा मुनीसन्ह* गाई। परम पुनीत† प्रबंध बनाई॥ ३॥
बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने॥ ४॥
हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥ ५॥

शब्दार्थ—**बिचित्र**=रंगबिरंगके, बहुत तरहके, अनूठे, आश्चर्यजनक। **घनेरे**=बहुत। **प्रबंध बनाई**—१३२ (२, ७, ८) देखिये।

अर्थ—इस प्रकार हरिके जन्म और कर्म सुन्दर, सुखदायक, विचित्र और अगणित हैं॥ १॥ कल्प कल्प (प्रत्येक कल्प) में (जब-जब) प्रभु अवतार लेते हैं और अनेक प्रकारके सुन्दर चरित्र करते हैं॥ २॥ तब-तब परम पवित्र काव्य रचना (छन्दोबद्ध) करके मुनीश्वर कथाएँ गाया करते हैं॥ ३॥ और तरह तरहके अनेक अनुपम प्रसङ्ग वर्णन किया करते हैं। बुद्धिमान् लोग उन्हें सुनकर आश्चर्य नहीं करते॥ ४॥ भगवान् अनन्त हैं और उनकी कथाका भी अन्त नहीं, सब संत बहुत प्रकारसे कहते-सुनते हैं॥ ५॥

* 'तब-तब कथा बिचित्र सुहाई। परम पुनीत मुनीसन्ह गाई॥' को० रा०।

† त्रिचित्र—छ०। पुनीत— १६६१, १७२१, १७६२, १७०४।

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि जनम करम हरि केरे।'''* इति। (क) यहाँ तीन कल्पोंके अवतारोंको कहा,—जय-विजय, जलंधर और नारद। यह कहकर *'एहि बिधि'* कहा अर्थात् इसी प्रकार और भी बहुत-से हैं। ☞ पुनः यह अर्धाली ऊपरके *'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार'* इस दोहेकी व्याख्या है। दोहेमें जो *'लीन्ह मनुज अवतार', 'सुरंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुवि भार'* कहा वही यहाँ क्रमसे *'जनम'* और *'करम'* हैं। यह *'एहि बिधि'* का भाव हुआ। (ख) *'सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे।'* भाव कि अपने रूपसे सुन्दर हैं, दूसरोंके सुखदाता हैं और विचित्र अर्थात् रंगविरंगके, अनेक प्रकारके हैं। *'घनेरे'* हैं अर्थात् जो हमने तीन कहे, इतने ही न समझो। आगे इन सब पदों (विशेषणों) की व्याख्या करते हैं। (ग) प्रथम (पूर्व) कहा कि जन्मके 'हेतु' अनेक हैं और विचित्र हैं, यथा—*'राम जन्म के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥'* अब कहते हैं कि जन्म और कर्म (स्वयं भी) अनेक (और) विचित्र हैं। (घ) [*'बिचित्र'* का भाव यह भी कहते हैं कि वात्सल्य, सख्य, वीर आदि सभी रसोंके चरित्र किये हैं; यही रंग-विरंगके चरित्र हैं।]

टिप्पणी—२ *'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।'''* इति। (क) भाव कि इसीसे उनके जन्म-कर्म घनेरे हैं। *'अवतरहीं'* यह जन्म हुआ, *'चरित करहीं'* यह कर्म हुआ। *'कलप कलप प्रति'* का भाव कि अन्तर नहीं पड़ता, प्रत्येक कल्पमें अवतार होता है। (ख) ऊपरकी अर्धाली *'एहि बिधि जनम करम'''* की ही व्याख्या इस अर्धालीमें है।—*'चारु चरित'* करते हैं अतएव सुन्दर हैं, यथा—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्।**' चरित सुन्दर हैं और अपने भक्तोंके हितार्थ किये जाते हैं, यथा—*'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं',* अतः सुखद हैं। प्रभु कल्प-कल्पमें अवतरित होते हैं और प्रत्येक कल्पमें चरित करते हैं तथा नाना विधिके करते हैं; अतएव घनेरे हैं। *'घनेरे'* का भाव कि अगणित हैं, यथा—*'जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥'* (७। ५२) [दोहा २५ भी देखिये। और ३६ (६) भी।]

पं० प० प्र०—*'कलप कलप प्रति'''''* से गीता ४। ८ के '**संभवामि युगे युगे**' इस वाक्यका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया है। इसी प्रकार अनेक स्थलोंमें गीताके अनेक वचनोंका अर्थ स्पष्ट किया गया है। गीता और मानस क्रमका एक तुलनात्मक छोटा-सा ग्रन्थ लिखनेकी आवश्यकता है। पण्डितलोग इस ओर ध्यान देंगे यह आशा है।

वि० त्रि०—कालिकापुराणमें कहा है 'प्रत्येक कल्पमें राम और रावण होते हैं। इस भाँति असंख्यों राम और रावण हो गये और होनेवाले हैं। उसी भाँति देवी भी प्रवृत्त होती हैं'। यथा—'**प्रतिकल्पं भवेद्रामो रावणश्चापि राक्षसः। एवं रामसहस्राणि रावणानां सहस्रशः। भवितव्यानि भूतानि तथा देवी प्रवर्तते।**' (अ० ६१। ३९—४१) दूसरे अवतार तो कल्पमें कई बार होते हैं पर रामावतार एक कल्पमें एक ही बार होता है। प्रत्येक कल्पके चरितोंमें विविध भेद रहता है पर चरित्रका ढाँचा प्रायः एक-सा रहता है।

टिप्पणी—३ *'तब तब कथा मुनीसन्ह गाई'''* इति। (क) *'तब तब'* का भाव कि प्रत्येक अवतारकी कथा मुनीश्वरोंने गायी है, यथा—*'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥'* (१२४। ४) मुनि प्रत्येक अवतारकी कथा बनाते (छंदोबद्ध करते) और गाते हैं, इसका कारण पूर्व ग्रन्थकार कह आये हैं कि *'करहिं पुनीत सुफल निज बानी।'* (१३। ८) इसीसे यहाँ नहीं कहा। [पूर्व कहा था कि *'बरनी कबिन्ह घनेरी'* और यहाँ कहते हैं कि *'मुनीसन्ह गाई''''प्रबंध बनाई'।* इस तरह यहाँ *'कबिन्ह'* का अर्थ खोला कि तब-तब मुनीश्वर ही कवि हुए और उन्होंने वर्णन किया।] (ख) *'परम पुनीत प्रबंध बनाई'।* यह 'कथा' का अर्थ किया। प्रबन्धका बनाना ही कथा है,—'प्रबंधकल्पना कथा।' प्रबन्धकी कल्पना अर्थात् रचना करते हैं और वही कथा गाते हैं। *'परम पुनीत'* का भाव कि जो इन प्रबन्धोंको सुनता या गाता है वह भी पवित्र हो जाता है।

टिप्पणी—४ ☞ प्रारम्भमें जो शिवजीने अवतारका हेतु कहा था कि *'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिमल जस रामजनम कर हेतु॥'* (१२१) इसको इस कल्पकी कथामें

भी चरितार्थ किया है—(१) *'भंजन भुवि भार'* से 'असुरोंका मारना और श्रुति-सेतुकी रक्षा' कही (असुर भुविभार और श्रुतिसेतुनाशक हैं ही) (२) *'सुररंजन'* से 'सुरोंका थापना' कहा और, (३) *'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं'* से *'जग बिस्तारहिं बिसद जस'''''* कहा।

टिप्पणी—५ *'बिबिध प्रसंग अनूप बखाने।'''* इति। (क)—पूर्व कविजीने ३३ (४) में कहा था कि *'कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी॥'* अर्थात् ज्ञानीलोग अलौकिक 'कथा' सुनकर आश्चर्य नहीं करते और अब उपदेश देते हैं कि कथाके प्रसंगोंमें भी आश्चर्य न करना चाहिये। (ख) *'सयाने'* अर्थात् ज्ञानीलोग चतुर। आश्चर्य न करनेका कारण ऊपरके सात चरणोंमें कहकर तब *'करहिं न सुनि, आचरजु'* कहा। भाव कि कल्पभेद समझकर आश्चर्य नहीं करते (कथाएँ विचित्र-विचित्र और आश्चर्यजनक होती ही हैं, इसीसे सावधान करते जाते हैं कि धोखेमें पड़कर कुतर्क न करने लगें)। यथा—*'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥ कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥ करिय न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥'* (३३, ६-८) तथा यहाँ *'कलप कलप प्रभु'''करहिं न सुनि आचरजु सयाने।'*

टिप्पणी—६ (क) *'हरि अनंत हरिकथा अनंता।'* भाव कि हरि और हरिकथा दोनों एक सदृश हैं, जैसे हरि हैं वैसी ही उनकी कथा है, यथा—*'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति बिधि नाना॥'* (ख) *'कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता'* का भाव कि अन्त नहीं पाते चाहे करोड़ों कल्पोंतक क्यों न गावें, यही बात आगे स्वयं कहते हैं—*'रामचंद्रके चरित सुहाए। कल्प कोटि लगि जाहिं न गाए॥'* मिलान कीजिये—*'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥ निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥'* (७।९१) तात्पर्य कि *'कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता।'* सो ये कुछ अन्त पानेकी भावनासे नहीं कहते-सुनते हैं, गा-सुनकर वे सब अपनी भक्ति जनाते हैं, प्रेमके कारण गाते हैं, भगवान् उनका प्रबन्ध सुन; उनकी भक्ति देख सुख मानते हैं, यथा—*'प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।'* (७। ९१) अतः सब गाते-सुनते हैं। यथा—*'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥'*

रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥ ६॥
यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमाया मोहहिं* मुनि ग्यानी॥ ७॥
प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी॥ ८॥
सोरठा—सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं भजिय महामायापतिहि॥ १४०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर चरित करोड़ों कल्पोंतक गाये नहीं चुक सकते॥ ६॥ हे भवानी! मैंने यह प्रसङ्ग कहा। ज्ञानी मुनियोंको भी भगवान्‌की माया मोहित कर लेती है॥ ७॥ भगवान् कौतुकी और शरणागतका हित करनेवाले हैं। सेवा करनेमें सुलभ और समस्त दुःखोंके हरनेवाले हैं॥ ८॥ देवता, मनुष्य, मुनि कोई भी ऐसा नहीं है जिसे परम बलवती माया न मोह ले। मनमें ऐसा सोच-विचारकर महामायाके अधिष्ठाता श्रीरामचन्द्रजीका भजन करना चाहिये॥ १४०॥

टिप्पणी—१ *'रामचंद्रके चरित सुहाए'''''।'* इति। (क) ☞ *'कहउँ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।'* (१२४) उपक्रम है। अब उसका उपसंहार कहते हैं। *'रामचंद्रके चरित सुहाए'''''* पर यह प्रसंग समाप्त किया।

* मोहहिं —पाठान्तर है। अर्थ होगा—'ज्ञानी मुनि हरि मायासे मोहित होते हैं।' १६६१, १७०४ में 'मोहहि' ही है और ठीक है।

(ख) *'रामचंद्र के चरित सुहाए'* का भाव कि जैसे रामजी चन्द्रमाके समान आह्लादकारी, तापहारी और सुन्दर हैं वैसे ही रामचन्द्रजीके चरित्र भी हैं। पुनः, 'रामचन्द्रके' कहनेका भाव कि अवतार लेकर चरित्र रामचन्द्रजीहीने किये, ये चरित्र विष्णुके नहीं हैं। (ग) *'कलप कोटि लगि जाहिं न गाए'* का भाव कि भगवान् कल्प-कल्पमें अवतरते हैं, कल्प-कल्पमें चरित्र करते हैं सो उनके एक-एक कल्पके ही चरित्र करोड़ों कल्पोंतक गाये चुक नहीं सकते। पुनः भाव कि रामचन्द्रजीके चरित्र सुन्दर हैं, आह्लादकारक और तापहारक होनेसे इतने सुखद हैं कि उनको गानेसे कभी मन तृप्त नहीं होता और अनन्त होनेसे गाये चुकते नहीं।

टिप्पणी—२ (क) *'यह प्रसंग मैं कहा भवानी'* इति। भाव कि मुनिलोगोंने विविध अनुपम प्रसंग बखान किये हैं उनमेंसे हमने यह प्रसंग विस्तारसे कहा। पार्वतीजीकी प्रार्थना थी कि *'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी'*, उसीपर कहते हैं कि *'यह प्रसंग मैं कहा भवानी।'* और जो पार्वतीजीने कहा था कि *'मुनि मन मोह आचरज भारी'* उसपर कहते हैं कि *'हरिमाया मोहहि मुनि ग्यानी।'* (ख) *'प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी'* यह उपसंहार है। *'मुनिकर हित मम कौतुक होई।'* (१२९। ६) यह जिसका उपक्रम है वह प्रसंग मैंने कहा। तथा *'हरिमाया मोहहिं मुनिग्यानी'* यह प्रसङ्ग [जिसका उपक्रम *'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनिमन मोह आचरज भारी॥'* (१२४। ८) यह अर्द्धाली है।] मैंने कहा। ☞इस प्रसङ्गमें हरिमायासे ज्ञानी मुनि नारदको मोह होना वर्णन किया गया है। *'प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी। सेवत सुलभ सकल दुख हारी'*, प्रभुका कौतुक और प्रणत जो नारद उनका हित करना कथन किया गया है। *'सेवत सुलभ'* कहा। क्योंकि नारदजी चरणोंपर गिरे इतनी मात्र सेवासे उनका सब दुःख हर लिया।—*'यह प्रसंग मैं कहा भवानी'* से *'सकल दुखहारी'* तक चरणोंके क्रमका भाव कहा गया।

नोट—१ *'सेवत सुलभ'* अर्थात् सेवा कठिन नहीं है, यथा—*'सकृत प्रनाम किहें अपनाये।'* (२। २९९) *'भलो मानि हैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै'* (वि० १३५), **'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'** केवल शरणमें आनेहीसे, केवल इतना कहनेहीसे कि मैं प्रपन्न हूँ तुम्हारा हूँ, सब काम बन जाता है, यथा—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (गीता)

टिप्पणी—३ *'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया'* इति। (क) 'सुर, नर, मुनि' कहनेका भाव कि ये ज्ञानयुक्त हैं, इन्हें माया मोह लेती है तब और सब जीव किस गिनतीमें हैं। वे तो अज्ञान (ज्ञानरहित) हैं ही। यथा—*'सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन। अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥'* (ख) *'अस बिचारि भजिअ महामायापतिहि'* अर्थात् मायापतिके भजनसे माया नहीं व्यापती, यथा—*'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।'* (७। ११६) *'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अबिद्या नासा॥'* (७। ११९) **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'** (गीता) (ग) इस प्रसङ्गके आदि-अन्तमें भजनका उपदेश दिया है, यथा—*'भवभंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद।'* (१२४) यह आदि है और *'भजिअ महामायापतिहि'* यह अन्त है। इसका तात्पर्य यह है कि नारद मान-मदके कारण मायाके वश हुए, उनकी दुर्दशा हुई तब और जीव किस गिनतीमें हैं?

नोट—२ *'महामायापतिहि।'* भाव कि जो उसके पतिकी सेवा करके पतिको अनुकूल बनाये रहेगा उससे तो वह (महामाया) स्वयं डरेगी। अथवा हमारे पतिकी सेवा यह करता है यह विचारकर प्रसन्न रहेगी और अनर्थ कभी भी न विचारेगी वरन् उसे सब तरह प्रसन्न और सुखी रखेगी। दोनों स्थितियोंमें भला ही होगा।

नोट—३ श्रीशिवजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी और श्रीगोस्वामीजी तीनों वक्ताओंने इस प्रसङ्गको यहाँ समाप्त किया।

	उपक्रम, प्रारम्भ वा संकल्प	पूर्ति वा उपसंहार
श्रीशिवजी	'यह प्रसंग मोहि कहहु।' (१२४। ८)	'यह प्रसंग मैं कहा।' (१४०। ७)
	'मुनिमन मोह आचरज।' (१२४। ८)	'हरि माया मोहहि मुनि ग्यानी।' (१४०। ७)
याज्ञवल्क्यजी	'कहउँ राम गुन-गाथ।' (१२४)	'रामचंद्र के चरित सुहाये।' (१४०। ६)
	'भरद्वाज कौतुक सुनहु।' (१२४)	'प्रभु कौतुकी।' (१४०। ८)
गोस्वामीजी	'भजु तुलसी तजि मानमद।' (१२४)	'भजिय महामायापतिहि।' (१४०)

'क्षीरशायी भगवान्‌के शापके हेतुसे श्रीरामावतार और तदन्तर्गत नारदमोह'

प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीमनु-शतरूपा-प्रकरण

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥ १॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुरभूपा॥ २॥
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु समेत धरें मुनि* बेषा॥ ३॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी॥ ४॥
अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**बिपिन**=वन, जङ्गल, दण्डकारण्य। **बौरानी रहिहु**=बुद्धि फिर गयी थी, विक्षिप्त हो गयी थी, सनक सवार हो गयी थी। **छाया**=असर। भूत-प्रेतका प्रभाव। आसेबका खलल।

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी (पार्वतीजी)! अब और कारण सुनो। मैं विस्तारपूर्वक (यह) विचित्र कथा कहता हूँ॥ १॥ जिस कारण अज, अगुण, अरूप, ब्रह्म अवधपुरीके राजा हुए॥ २॥ जिन प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको भ्रातासहित मुनिवेष धरे वनमें फिरते हुए तुमने देखा था॥ ३॥ और हे भवानी! सतीतनमें जिनके चरित्र देखकर तुम बावली हो गयी थीं॥ ४॥ अब भी तुम्हारी (उस बावलेपनकी) छाया नहीं मिटती है, उन्हींके भ्रमरूपी रोगको हरनेवाले चरितको सुनो॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) ***'अपर हेतु सुनु।'*** भाव कि रामजन्मके हेतु अनेक हैं और विचित्र हैं, यथा—***'रामजन्म के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥'*** उन अनेकोंमेंसे तीन हेतु कहे। जय-विजय, जलंधर और नारद। तीनको कहकर उनका उपसंहार दिया। ***'एहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥'*** उनका उपसंहार है। अब अन्य हेतु कहते हैं, इसीसे पुनः ***'बिचित्र'*** विशेषण दिया। (ख) ***'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म'''''*** अर्थात् और जो कारण कहे वे विष्णु अवतारके हैं, क्षीरशायी नारायण अवतारके हैं। शैलकुमारीका भाव कि तुम्हारे इस प्रश्नसे जगत्‌का उपकार होगा। (शैल-परोपकारी होते हैं तुम शैलकी कन्या हो, अतः तुमने परोपकारके लिये ही प्रश्न किया है) (ग) ***'अज अगुन अरूप'*** विशेषणोंके देनेका भाव कि पार्वतीजीने तीन विशेषण देकर ब्रह्मको पूछा था, यथा—***'रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥'*** (१०८। ८) अतएव वही तीन विशेषण देकर शिवजी ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं। (घ) ***'कोसलपुरभूपा'*** का भाव कि राजा मनुको ब्रह्मने वर दिया था कि ***'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।'*** (१५१) वही ब्रह्म कोसलपुरभूप हुआ। यह बात शिवजीने उपसंहारमें कही है, यथा—***'उमा अवध बासी नर नारि कृतारथरूप। ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥'*** (७। ४७)

नोट—१ पण्डित रामकुमारजीके मतानुसार इससे पूर्व तीन अवतारोंके हेतु कहे। १—वैकुण्ठसे भगवान् विष्णुका जय-विजयके निमित्त। २-वैकुण्ठसे महाविष्णुका जलंधरकी स्त्रीके शापवश और ३-क्षीरशायी

* पाठान्तर—नरवेषा—(रा० प०)

श्रीमन्नारायणका नारदशापवश रामअवतार हुआ। परंतु ये सब अवतार रूपान्तर हैं, चतुर्भुजस्वरूपसे द्विभुज हुए और जो अज-अगुण अरूप परात्पर परब्रह्म मनुशतरूपाजीके प्रेमसे प्रकट हुए वे अखण्डैकरस, नित्य, द्विभुज शार्ङ्गधर सीतापति हैं।—महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि *'अज अगुण'* आदि चार विशेषण देकर त्रिगुणसे परे तुरीय होना सूचित किया। (प्र० सं०)

नोट—२ पं० रामकुमारजी एक पुराने खर्रेमें लिखते हैं कि पार्वतीजीके प्रश्नके समय शिवजीने तीन कल्पकी कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की, सो वे कह चुके। अब चौथा कल्प है, अत: *'अपर हेतु'* शब्द दिये, इसे *'बिचित्र'* कहा और *'बिस्तार'* से कहा। रामायणादिसे विलक्षण है।—*'की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ।'* यह तो दो कल्पका अनुमान है जो रमा वैकुण्ठसे हुए। *'नर नारायन की तुम्ह दोऊ'* यह क्षीरशायी कल्पका अनुमान है। *'जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार'* यह मनुके प्रसङ्गका अनुमान है।' पुन: *'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'* यह जो सतीजीका अनुमान है वह स्वायंभू मनुशतरूपाके तपके कल्पकी कथाका अनुमान है। *'बिष्नु जो सुर हित नरतनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥'* यह रमावैकुण्ठनिवासीके कल्पके अवतारका अनुमान है। और *'खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी'* नारदशापकल्पका अनुमान है। गोस्वामीजीकी 'कहनी' रामायणमें चारों कल्पोंकी कथा बराबरसे गुँथी है।

वि० त्रि०—इस अवतारको वल्लभमतमें भी षोडशकला अर्थात् पूर्णावताररूपेण स्वीकार किया है। तीन कल्पोंके अवतारोंका कारण संक्षेपसे कह आये। ब्रह्मके अवतारकी कथा विस्तारसे कहनेका संकल्प है। शेष तीन कल्पोंकी कथाएँ भी वैसी ही हुई थीं, जहाँ कोई विशेषता आ पड़ी है, उसका भी विस्तृत कथामें समावेश कर दिया गया है, वह स्पष्ट मालूम पड़ता है। इस ब्रह्मावतारकी विशेषता यह है कि इसमें श्रीरघुवीरने सब चरित्रोंको अतिशय रूपमें किया है।

टिप्पणी—२ (क) *'जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा'* इस कथनका तात्पर्य यह है कि पार्वतीजीके मनमें संदेह न रह जाय कि 'हमने जिनको वनमें फिरते देखा वह राम विष्णुके अवतार हैं या ब्रह्मके। [*'प्रभु'* का भाव कि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ हैं। (रा० प्र०)] (ख) *'बंधु समेत'* कहनेका भाव कि उस समय सीताहरण हो चुका था, केवल लक्ष्मणजी साथ थे। *'बिपिन फिरत'* से जनाया कि श्रीसीताजीको खोज रहे थे। *'धरें मुनि बेषा'* अर्थात् राज्य त्यागकर विशेष उदासी वेषमें थे। (ग) *'जासु चरित अवलोकि'''* इति। *'जासु चरित'* अर्थात् नारिविरहमें व्याकुल। *'रहिहु बौरानी'* का भाव कि मोहपिशाचने तुम्हें ग्रस लिया था क्योंकि जिसे भूत लगता है वह बावला हो जाता है।

टिप्पणी—३ *'अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी'''।'* इति। (क) *'छाया'* का भाव कि अब परिपूर्ण मोह नहीं है, छायामात्र है। प्रमाण यथा—*'तब कर अस बिमोह अब नाहीं।'* (१०९। ७) पुन:, *'तब कर अस बिमोह अब नाहीं'* एवं *'अजहूँ कछु संसय मन मोरे'* जो कहा था उसीके सम्बन्धसे *'अजहुँ न छाया मिटति'* कहा। (अभी मोह-पिशाचका प्रभाव गया नहीं है।) ☞ यहाँ यह शङ्का होती है कि अब भी छाया नहीं मिटी तो तीन कल्पोंके अवतार जो कह आये वे व्यर्थ ही हुए! तीन कल्पोंकी कथासे शङ्का निवृत्त न हुई! इसका समाधान यह है कि तीन कल्पोंमें विष्णु अवतारकी कथा शिवजीने कही, सो उनकी विष्णु-अवतारमें तो शङ्का है ही नहीं। उनका स्वयं यह सिद्धान्त है कि विष्णुभगवान् अवतार लेते हैं, यथा—*'बिष्नु जो सुरहित नरतनु धारी।'* (५१। १) शङ्का है ब्रह्मके अवतार लेनेमें, यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'* (५०) अत: अब ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं। इससे ब्रह्मके अवतारका भ्रम अब दूर होगा। (ख) *'जासु चरित अवलोकि'''।'* चरित्र देखकर भ्रम हुआ था, यथा—*'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।'* (१०८) इसीको लक्ष्य करके कहते हैं कि *'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी'* जिनके चरित्र देखकर भ्रम हुआ उन्हींके चरित्र श्रवण करनेसे भ्रमरोगका नाश होगा। तात्पर्य कि ईश्वरके चरित्र देखकर भ्रम होता है और चरित्रको साङ्गोपाङ्ग

सुननेसे भ्रम दूर होता है, जैसे सतीजीको एवं गरुड़जीको देखनेसे भ्रम हुआ और सुननेसे उनका भ्रम दूर हुआ। भ्रमरुज कहकर चरित्रको ओषधि सूचित किया। ओषधिसे रोग दूर होता है।

लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥ ६॥
भरद्वाज सुनि संकर बानी। सकुचि* सप्रेम उमा मुसुकानी†॥ ७॥
लगे बहुरि बरनै बृषकेतू। सो अवतार भएउ जेहि हेतू॥ ८॥
दो०—सो मैं तुम्ह सन कहौं सबु सुनु मुनीस मन‡ लाइ।
रामकथा कलिमलहरनि मंगलकरनि सुहाइ॥ १४१॥

शब्दार्थ—**लाइ**=लगाकर। **लाना**=लगाना।

अर्थ—उस अवतारमें जो लीला की वह सब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहूँगा॥ ६॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—) हे भरद्वाज! शङ्करजीके वचन सुनकर उमाजी सकुचाकर प्रेमसहित मुस्कुरायीं॥ ७॥ फिर धर्मकी ध्वजा शिवजी वह अवतार जिस कारण हुआ उसका वर्णन करने लगे॥ ८॥ 'हे मुनीश्वर! वह सब मैं तुमसे कहता हूँ, मन लगाकर सुनो। रामकथा कलिके पापोंको हरनेवाली, मङ्गल करनेवाली और सुन्दर है॥ १४१॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सो सब कहिहौं'*** का भाव कि तीन कल्पोंकी लीला कुछ भी नहीं कही, केवल अवतारका हेतुमात्र कहा था, इसीसे इस कल्पकी सब लीला कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। (ख) ***'मति अनुसारा'*** का भाव कि भगवान्‌की लीला अनन्त है, हम अपनी बुद्धिके अनुसार कहेंगे। अथवा, इस अवतारकी लीला सब कहेंगे और अन्य अवतारोंकी संक्षेपसे (प्रसङ्गात् कहीं-कहीं) कहेंगे। इति भावः(ग) ***'सुनि संकर बानी सँकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी।'*** इति। ('शङ्कर' नाम दिया क्योंकि सर्व प्रकार कल्याण करनेवाले हैं। पार्वतीजीका कल्याण करनेके लिये ही यह चरित कहने जा रहे हैं।) शिवजीने जो कहा था कि ***'अजहु न छाया मिटति तुम्हारी।'*** और ***'सती सरीर रहिहु बौरानी'*** यह सुनकर सँकुची, मुसुकराकर शिवजीके वचनोंको अङ्गीकार किया अर्थात् सूचित किया कि आप जो कहते हैं सो सत्य है और ***'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी'*** यह सुनकर प्रेम हुआ। (पां०) [(घ) पुनः सकुचानेका भाव कि प्रभुकी परीक्षा लेनेमें मैंने बड़ी अनीति की। अथवा, अपने ओरकी अनीति और प्रभुकी कृपालुता समुझकर सकुचीं। अथवा, ***'बौरानी'*** कहनेसे संकोच हुआ। (रा० प्र०)। साँवली सूरत मोहिनी मूर्तिका स्मरण हो आया, इससे प्रेम हुआ। (पं०, रा० प्र०) अबतक छाया नहीं मिटती, यह उपालम्भ सुनकर मुसुकायीं (पं०) अथवा, भ्रमके भागनेसे अपनेको धन्य मानकर हर्षित हुई। (रा० प्र०) (ङ) ***'सकुच, प्रेम और मुस्कान'*** तीनों भाव एक साथ उत्पन्न होनेसे यहाँ 'समुच्चय अलंकार' हुआ।]

वि० त्रि०—एक जन्मके कर्मफलभोग पूरा हो जानेपर भी कर्मलेश रह जाता है जो दूसरे जन्मका कारण होता है। यह कर्मघाटकी बात है, अतः इसे कर्मघाटके वक्ताके मुखसे ही कहलाया।

टिप्पणी—२ (क) ***'लगे बहुरि बरनै·····'*** इति। पार्वतीजीका प्रश्न है कि ***'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥'*** (१२०, ६-७) उसीका उत्तर यहाँ ***'लगे बहुरि बरनै बृषकेतू।·····'*** से दे चले हैं। ***'जो'*** का सम्बन्ध ***'सो'*** से है। अर्थात् ***'जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा, सो अवतार भएहु जेहि हेतू।'*** (ख) प्रथम हेतु वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की। यथा—***'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा॥'*** इसीसे प्रथम हेतु कहते हैं, यथा—***'सो अवतार भएहु जेहि हेतू।'*** तत्पश्चात् चरित्र-वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की, यथा—***'तासु चरित सुनु भ्रमरुज हारी।'*** अतएव इसे पीछे वर्णन करेंगे। (ग)[***'बृषकेतू'*** विशेषणका भाव कि धर्मके पालक हैं, सदा उनकी दृष्टि धर्मपर रहती है, धर्मकी वृद्धिके निमित्त ही वे प्रभुका गुणानुवाद करते हैं। (पं०) अथवा, धर्मकी ध्वजा धारण किये हुए हैं, अधर्मरूप मिथ्या बोलनेवाले नहीं हैं। इस विशेषणसे कथाकी सत्यता सूचित करते हैं। (रा० प्र०)]

* १६६१ में 'संकुचि' है। 'सँकुचि' पढ़ा जायगा। †शिवा हरषानी—(बै०) ‡उर; चित।—पाठान्तर

टिप्पणी—३ (क) *'सो मैं तुम्ह सन कहौं सबु''''* इति। अर्थात् जो शिवजी पार्वतीजीसे वर्णन करने लगे थे वह सब मैं तुमसे कहता हूँ। *'सबु'* का भाव कि शिवजीकी प्रतिज्ञा *'सब'* कहनेकी है, यथा—*'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥'* इसीसे याज्ञवल्क्यजी भी *'सब'* कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, क्योंकि शिवजीके कथनमें याज्ञवल्क्यजीकी 'कहनी' (कथन) मिली हुई है, यथा—*'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥'* (४७)

(ख) *'सुनु मुनीस मन लाइ'* इति। 'मन लगाकर सुनो'—इस कथनका तात्पर्य है कि सुनने योग्य है (पुनः भाव कि यह परम गुह्य है, गूढ़ है, मन लगाकर न सुननेसे धारण न होगा।) (ग) *'मंगलकरनि सुहाइ'* यथा—*'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'* (१। १०) (घ) ☞'कथा उपासना है, कर्म और ज्ञान दोनोंका फल देती है। *'मंगलकरनि'* मोक्ष है जो ज्ञानका फल है। *'कलिमलहरनि'* यह कर्मका फल है। [*'मंगल'* शब्द मोक्षवाचक है और *'ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना'* इस तरह *'मंगलकरनि'* से ज्ञानका फल देनेवाली कहा। *'कलिमल'* अर्थात् नित्य-नैमित्तिक पाप। ये कर्मसे नाश होते हैं। अतः *'कलिमलहरनि'* से कर्मफलदातृत्व कहा, यथा—*'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥'*, *'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'* (दोहा १० छन्द, देखिये) यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेसे 'सार' अलंकार हुआ।]

व्याकरण—अवधी भाषामें शब्दके अन्तमें उकार प्रायः बोला जाता रहा है। गोस्वामीजीने इसका प्रयोग बहुत किया है। जैसे 'सुनु'=सुन, सुनो। गोस्वामीजी 'सूकरखेत' में गुरुजीके साथ बहुत दिन रहे। सूकरक्षेत्रके आसपास इस पार अबतक उकारयुक्त शब्द बोले जाते हैं।

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥ १॥
दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥ २॥
नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव* हरिभगत† भएउ सुत जासू॥ ३॥
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही॥ ४॥

शब्दार्थ—**स्वायंभू**=स्वयम्भू-(ब्रह्माजी-) से उत्पन्न सबसे पहले 'मनु' स्वायंभुव। **सृष्टि**=उत्पन्न जगत्। जगत्का आविर्भाव। उत्पत्ति, बनने वा पैदा होनेकी क्रिया या भाव। **दम्पति**=स्त्री-पुरुष। **लीका** (लीक)=रेखा, लकीर, गणना। यथा—*'भट महँ प्रथम लीक जग जासू'*, *'लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥'* **आचरन** (आचरण)=व्यवहार, (धर्म) करनेकी रीति भाँति।

अर्थ—श्रीस्वायम्भुव मनु और श्रीशतरूपाजी जिनसे सुन्दर उपमारहित मानवी अर्थात् मनुष्यसृष्टि हुई॥ १॥ स्त्री-पुरुष दोनोंका धर्माचरण बहुत अच्छा था। जिनके धर्मकी लीकको वेद (आज दिन) अब भी गाते हैं। (अर्थात् स्वायम्भुव मनु और शतरूपाजीकी कथा वेदोंमें लिखी है, सब धर्मात्माओंमें इनकी प्रथम रेखा अर्थात् गणना है)॥ २॥ उनके पुत्र राजा उत्तानपाद हुए जिसके पुत्र भगवद्भक्त श्रीध्रुवजी हुए॥ ३॥ जो छोटा पुत्र था उसका नाम प्रियव्रत है, जिसकी प्रशंसा वेद और पुराण कर रहे हैं॥ ४॥

नोट—१ *'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा'* इति।—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० १२ में सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है। ब्रह्माजीने अविद्या माया, सनकादि ऋषि, रुद्र, मरीचि आदि दस मानसपुत्र क्रमशः उत्पन्न किये। इनसे सृष्टिकी वृद्धिका कार्य न होता देख मनु-शतरूपाको उत्पन्न किया। (ब्रह्मा सृष्टि-वृद्धि न देख चिन्तित हो दैवकी शरण गये, त्यों ही उनके शरीरके दो भाग हो गये। उन दोनों खण्डोंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट् स्वायंभुव मनु हुए और जो स्त्री थी वह महारानी शतरूपा हुईं)। मनुजी ब्रह्मावर्तमें रहते हुए सात समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका शासन करते थे। यथा—**'ब्रह्मावर्त**

*—ध्रुव—१७२१, छ०। ध्रुव—१६६१, १७०४, १७६२। †—भक्त—को० रा०।

योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम्।' (भा० ३। २१। २५) मैथुनद्वारा सृष्टिकी वृद्धि इन्हीं मनु-शतरूपाद्वारा हुई। और इनकी तीनों कन्याओंके वंशसे जगत् प्रजासे परिपूर्ण हो गया। (भा० ३। १२। ५२—५६)

ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु भोग करते हैं। एक-एक मनु अपने-अपने कालमें कुछ अधिक ७१ चतुर्युगी भोग करते हैं। प्रति मन्वन्तरमें भगवान् अपनी सत्त्वमूर्तिद्वारा मनु आदिके रूपमें प्रकट होकर उनके द्वारा अपने पौरुषको प्रकाशित करते हुए विश्वकी रक्षा करते हैं। [मनु और मन्वन्तरोंका विस्तारसे वर्णन ***'भक्ति सुधास्वाद'*** तिलक (भक्तमालमें) श्रीरूपकलाजीने भाषामें किया है। प्रेमी उसमें भी देख सकते हैं।]

मनु भगवद्भक्त थे। वे धर्मपूर्वक अनेक विषय-भोग एवं प्रजा-पालन करने लगे। निद्राभङ्ग होनेपर वे एकाग्र चित्त हो प्रेमसे हरिचरित सुना करते थे। विषय-भोग करते हुए भी सकल विषय उनके चित्तपर अपना अधिकार न जमा सके। भगवान्हीमें सदा अनुरक्त रहते, लवमात्र समय भी व्यर्थ न जाने देते थे। इस प्रकार भगवत्-प्रसङ्गसे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको जीते हुए तुरीयावस्थामें स्थित होकर उन्होंने लगभग ७२ चतुर्युग परिमित समय राज्य कर बिताया। गन्धर्व उनकी कीर्तिको नित्यप्रति गान करते थे।

मुनिगणने उनसे धर्मकी जिज्ञासा की तब उन्होंने अनेक प्रकारके कल्याणकारी धर्म, साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म वर्णन किये। इनकी स्मृतियाँ धर्मशास्त्र अबतक प्रमाणस्वरूप हैं। (भा० ३। २२। ३२—३८)

इनके दो पुत्र (प्रियव्रत, उत्तानपाद) और तीन कन्याएँ (आकूति, देवहूति, प्रसूति) हुईं। आकूतिका विवाह रुचि प्रजापतिसे, देवहूतिका विवाह महर्षि कर्दम प्रजापतिसे और प्रसूतिका दक्षप्रजापतिसे हुआ। श्रीअनुसूया, अरुन्धती आदि महासती कन्याएँ इन्हीं देवहूतिजीकी हुईं। (भा० ३। २४। २२-२३)

टिप्पणी—१ (क) ***'स्वायंभू मनु।'*** मनु चौदह हो गये हैं। उनमेंसे यह कौन हैं यह भ्रम निवृत्त करनेके लिये ***'स्वायंभू मनु'*** कहा। प्रथम ही भ्रम निवारण करके अब आगे सर्वत्र केवल ***'मनु'*** शब्दका प्रयोग करेंगे। यथा—***'तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला', 'तहँ हिय हरषि चले मनु राजा', 'मनु समीप आए बहु बारा', 'बोले मनु करि दंडवत······'*** इत्यादि। (ख) ***'स्वायंभू मनु'*** कहकर इन मनुकी उत्पत्ति ***'स्वयंभू'*** से जनायी। आगे इनसे मनुष्यकी उत्पत्ति कहते हैं ***'जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा।'*** (ग) ***'नरसृष्टि अनूपा'*** का भाव कि प्रथम मानसी सृष्टि थी और इनसे मैथुनी सृष्टि हुई। जैसी नर-सृष्टि है ऐसी और सृष्टियाँ नहीं हैं, यह जाननेके लिये ***'अनूप'*** कहा। [भगवान्का श्रीमुख-वचन है कि ***'मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥ सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए॥'*** (७। ८६) अतः ***'अनूप'*** कहा। पुनः चराचर जीव इसके लिये याचना करते हैं, यही मोक्षको दिलाता है, यथा—***'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥'*** (७। १२१) ***'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।'*** (७। ४४) अतः ***'अनूपा'*** कहा।] (घ) ***'धरम आचरन नीका'*** का भाव कि चौदहों मनुओंका मुख्य काम यही है कि धर्मका प्रतिपालन करें और करावें। धर्मका आचरण अच्छा कहकर आगे वंशका वर्णन करनेका तात्पर्य कि भारी पुण्यसे ऐसे वंशकी प्राप्ति होती है, यथा—***'तुम्ह तें अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥ बीर बिनीत धरम ब्रतधारी। गुनसागर बर बालक चारी॥'****

प० प० प्र०—स्वयंभू विशेषण साभिप्राय है। इस नामसे जनाया कि स्वायम्भुव (प्रथम) मन्वन्तरमें ब्रह्माने पुत्र होने और अवतार लेनेका निश्चय किया और अवतार हुआ वैवस्वतमन्वन्तर चौबीसवें या

---

* 'धरम आचरन नीका', 'अजहुँ गाव श्रुति'। भाव कि नीक (उत्तम) धर्माचरणमें प्रथम और मुख्य है। ब्रह्माजीसे वेद प्रकट हुए और मनु भी। वेदोंके धर्म मनु करते हैं, अतएव कहा कि मनुका आचरण वेद कहते हैं (क्योंकि ये जो आचरण करते हैं वे वेदोंमें हैं।) (मा० पी० प्र० सं०) 'गाव श्रुति······', यथा 'यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्' अर्थात् जो मनु कहते हैं वही (भवरोगके लिये) भेषज है। वेद अपौरुषेय हैं। उसमें व्यक्तिविशेषका नाम नहीं है। उसमें जो व्यक्तिविशेषके नाम आते भी हैं, वे पदोंके नाम हैं। प्रत्येक कल्पमें जो पहिले मनु होते हैं, वे स्वायम्भू कहलाते हैं और ऐसे ही ज्ञानी महात्मा होते हैं। (वि० त्रि०)

उन्नीसवें त्रेतामें। कम-से-कम पाँच मन्वन्तर और चौबीस त्रेतायुग इतने प्रदीर्घकालके पश्चात् वरका फल मिला। अवतार-कारण और अवतारकार्यमें इतना प्रदीर्घ काल बीता। इस कालको भगवान्‌ने *'कछु काल'* कहा है, यथा—*'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।'* (१। १५१) जिस दोहेमें यह वचन दिया वह १५१ वाँ है। इस संख्यासे यह बात जना रहे हैं कि पहले ('१') मन्वन्तरमें वचन दिया फिर बीचमें '५' से जनाया कि '५' मन्वन्तर बीचमें बीत गये तब उनके बादके प्रथम ('१') वैवस्वत मन्वन्तरमें अवतार हुआ।

अवतार-विषयक प्रश्न *'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा'* दूसरा है और ग्रन्थकर्त्ताकी दूसरी प्रतिज्ञा है—*'बरनउँ रामचरित भवमोचन॥'* (१। २। २) *'बालचरित पुनि कहहु उदारा'* यह तीसरा प्रश्न रामजन्म और बाल-चरितविषयक है और कविकी तीसरी प्रतिज्ञा है—*'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥'* (१। १२। ९) इन दोनोंमें अन्तर १५१ पंक्तियोंका ही है। यह भी दो घटनाओंके बीचके कालका संकेत करनेके लिये है। इस प्रकार २२ प्रतिज्ञाओंका सम्बन्ध २२ प्रश्नोंसे है। प्रतिज्ञा, प्रश्न और उनके उत्तरके शब्दोंमें भी ऐसा साम्य रखा है कि बुद्धि आश्चर्यचकित होती है। दो प्रतिज्ञाओंमें जो अन्तर है वह कालसूचक है यह गूढ़चन्द्रिकामें स्पष्टतया मिलान करके बताया। हिन्दी-मानसप्रेमी विद्वान् इस इशारेपर स्वयं मिलान करके देख लें।

टिप्पणी—२ (क) *'नृप उत्तानपाद सुत',* ये बड़े पुत्र हैं, जैसा आगेके *'लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही'* से स्पष्ट है, इसीसे इनको प्रथम लिखा। भागवतके मनुके पुत्र जो उत्तानपाद हुए हैं वह छोटे पुत्र हैं। यह उत्तानपाद और मनु और किसी कल्पके हैं। *'कलपभेद हरि चरित सुहाए'* के अनुसार यहाँ भी कल्पभेद है। (ख)*'ध्रुव हरि भगत भएउ सुत जासू'* इति। जासू=जिस उत्तानपादके। जैसी बड़ाई पिता-माताकी लिखी—*'दंपति धरम आचरन नीका। अजहु गाव श्रुति जिन्ह कै लीका ॥'* और जैसी बड़ाई छोटे भाई प्रियव्रतकी लिखते हैं—*'बेद पुरान प्रसंसहिं जाही',* वैसी बड़ाई उत्तानपादकी नहीं लिखते, इसमें आशय यह है कि पुत्रका हरिभक्त होना यह सब बड़ाईकी अवधि (सीमा) है, इसीसे *'ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू'* इतना ही लिखकर छोड़ दिया और सब बड़ाई इसके सामने कुछ नहीं है। यथा—*'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत॥'* (७। १२७) (ग) *'नृप उत्तानपाद।'* उत्तानपाद जेठे भाई हैं, राज्यके अधिकारी हैं, इसीसे इनको नृप कहा; प्रियव्रतको नृप न कहा। यह राजनीति है कि ज्येष्ठ पुत्र राज्य पावे, यथा—*'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति।'* [पं० रामकुमारजी यह भी लिखते हैं कि 'जिसका पुत्र हरिभक्त हो वह सब प्रकार बड़ा है, यह विचारकर भागवतका मत न लिखा; किंतु जिस ग्रन्थमें उत्तानपाद ज्येष्ठ पुत्र लिखा है उसीका मत यहाँ दिया।' (नोट—परंतु मेरी समझमें इस भावसे मानसके शिवकथित—चरित्र होनेमें त्रुटि आवेगी। कल्पभेद ही ठीक समाधान है। जिस कल्पमें ऐसा हुआ है उसी कल्पके मनुको द्विभुज ब्रह्मका दर्शन और वरदान है।)] (घ) *'बेद पुरान प्रसंसहि जाहीं'* से जनाया कि पिताके सदृश यह भी धर्मात्मा हैं। पिताके धर्मकी प्रशंसा वेद करते हैं, वैसे ही इनकी भी प्रशंसा करते हैं, पुन: भाव कि वेद-पुराणोंमें कथा है, हम उनकी कथा विस्तारसे नहीं कहते।

नोट—२ 'उत्तानपाद और ध्रुवजीकी कथा भा० स्कं० ४ अ० ८, ९, १०, ११, १२ में देखिये। ध्रुवजीने ५ वर्षकी अवस्थामें तप करके छ: मासहीमें प्रभुको रिझा लिया। ऐसे हरिभक्त!—*'पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ॥'* (१। २६। ५) (मा० पी० भाग १ देखिये)।

नोट—३ *'प्रियव्रत'*—इन्होंके वंशमें ऋषभभगवान्‌ने अवतार लिया। वे स्वयं बड़े ही भगवद्भक्त, वैराग्यवान् और विज्ञानी हुए। नारदजीके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उनको सहज ही परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो गया था। ब्रह्मा, मनु आदि बड़ोंकी आज्ञा मानकर भगवत्-इच्छासे उन्हें निवृत्ति-मार्ग छोड़ प्रवृत्ति-मार्गमें प्रवृत्त होना पड़ा था। इन्होंने विश्वकर्मा प्रजापतिकी बर्हिष्मती नामकी कन्यासे विवाह किया। उससे आग्नीध्रादि दस पुत्र और ऊर्जस्वती नामकी कन्या हुई जो शुक्राचार्यको ब्याही गयी। तीन पुत्र तो बाल्यावस्थामें

ही परमहंस हो गये। शेष सातों द्वीपोंके राजा हुए। श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ५ अ० १) में लिखा है कि इन्होंने ११ अर्बुद वर्ष राज्य किया। आपने अपने योगबलसे सात तेजोमय रथ (प्रतिदिन एक) निर्माण किये। इन ज्योतिर्मय रथोंपर चढ़कर इन्होंने दूसरे सूर्यके समान सूर्यभगवान्‌के साथ-ही-साथ सात बार पृथ्वीकी परिक्रमा की। इनके रथके तेजसे रातमें भी सूर्यका-सा प्रकाश राज्यभरमें रहता था। अपने सात समुद्र और द्वीपोंकी रचना करके पृथ्वीका विभाग कर दिया एवं नदी, पर्वत और वन आदिसे द्वीपों और खण्डोंकी सीमा बना दी। यह करके फिर स्वर्ग आदिके विभवको नरकतुल्य मान तिनकाके सदृश त्याग दिया।

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥५॥
आदिदेव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥६॥
सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्वबिचार निपुन भगवाना॥७॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब* बिधि प्रतिपाला॥८॥
सोरठा—होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन।
हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥१४२॥

शब्दार्थ—**आदिदेव**=सम्पूर्ण सृष्टिके कर्त्ता, जिनसे पहले और कोई नहीं हुआ। **जठर**=गर्भ, कोख, कुक्षि। **सांख्यशास्त्र**—छः दर्शनोंमेंसे एक यह भी है। इसमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम दिया है। इसमें प्रकृतिहीको जगत्‌का मूल माना है और कहा गया है कि सत्त्व, रज, तम गुणोंके योगसे सृष्टिका और उसके सब पदार्थों आदिका विकास हुआ है। इसमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानी गयी है। आत्माको पुरुष, अकर्ता, साक्षी और प्रकृतिसे भिन्न कहा गया है। **प्रतिपाला**=पालन किया, तामील की, बजा लाये। पन (सं० पर्वन=विशेष अवस्था)=आयुके चार भागोंमेंसे एक। **चौथपन**=चौथी अर्थात् वृद्धावस्था।

अर्थ—पुनः, देवहूतिजी उनकी कन्या हुईं जो कर्दम ऋषिकी प्रिय पत्नी हुईं॥५॥ जिसने अपने गर्भमें आदिदेव, समर्थ, दीनदयाल, कृपाल, कपिलभगवान्‌को धारण किया॥६॥ जिन्होंने सांख्यशास्त्रका प्रकट बखान किया। वे (कपिल) भगवान् तत्त्वविचारमें बड़े निपुण (प्रवीण, कुशल) थे॥७॥ उन स्वायम्भुव मनुने बहुत कालतक राज्य किया और सब तरहसे प्रभुकी आज्ञाका पालन किया॥८॥ घरमें रहते हुए चौथापन हो गया, विषयोंसे वैराग्य न हुआ, जीमें बहुत दुःख हुआ कि जन्म हरिभक्ति बिना व्यर्थ बीत गया॥१४२॥

टिप्पणी—१ (क) *'देवहूति पुनि तासु कुमारी'*— *'पुनि'* का भाव कि उत्तानपाद और प्रियव्रतके पीछे ये पैदा हुईं, दोनों भाइयोंसे ये छोटी हैं। (ख) *'कर्दम कै प्रिय नारी।'* भाव कि स्त्रीका पतिप्रिय होना परम धर्म है, यथा—*'होइहि संतत पियहि पियारी।'* (६७। ३) *'पारबती सम अति प्रिय होहू'* इत्यादि। इसीसे *'प्रिय'* कहा। (वि० त्रि० कहते हैं कि कर्दम प्रजापतिने बहुत बड़ी तपस्या करके भगवान्‌से अपने अनुरूप पत्नी माँगी तब उन्हें देवहूति तपश्चर्याके फलरूपमें प्राप्त हुईं, अतः *'प्रिय नारी'* कहा।) (ग) *'आदिदेव प्रभु दीनदयाला',* इन तीन विशेषणोंसे तीन बातें कहीं। 'आदिदेव' से सृष्टिके कर्ता, सबको उत्पन्न करनेवाला, 'प्रभु' से समर्थ अर्थात् सबका संहार करनेवाले और 'दीनदयाल' से सबके पालनकर्त्ता जनाया। अथवा भाव कि सबके पालन करनेमें प्रभु (समर्थ) हैं, दीनदयाल हैं, प्रलयकालमें सबको अपने उदरमें रखते हैं। (घ) *'जठर धरेहु जेहि'* अर्थात् गर्भाशय वा उदरमें धारण किया। भाव कि जो सृष्टिमात्रको अपने उदरमें रखते हैं उनको इन्होंने अपने उदरमें रखा अर्थात् वे इनके पुत्र हुए। (ङ) *'कृपाला'* का भाव कि कृपा करके इनके जठर-(गर्भ-) में आये। अवतारका कारण कृपा है।

* बहु—१७२१, छ०। सब—१६६१, १७०४, १७६२।

टिप्पणी—२ (क) *'सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना'* इति। *'प्रगट बखाना'* का भाव कि बखानना दो प्रकारका होता है। एक लिखकर, दूसरा कहकर। कपिलदेवजीने मातासे कहकर बखान किया, इसीसे *'प्रगट'* पद दिया [वा, वेद भी भगवान्‌की ही वाणी है। वेदोंमें सब कुछ है। अब भगवान्‌ने स्वयं प्रगट होकर आचार्यरूपसे उसको प्रत्यक्ष वर्णन किया। असुर (आसुरि) नामक अपने शिष्यको सांख्यशास्त्रका ज्ञान कराकर उसके द्वारा जगत्‌में पुनः प्रचार कराया। *'प्रगट'* में भाव यह कि वेदोंमें पूर्वपक्षरूपसे आये हुए सांख्यसिद्धान्तका प्रचार किसी कारणवश बंद हो जानेसे प्रकृतिवादका सिद्धान्त लुप्तप्राय हो गया था, इसीसे भगवान्‌ने कपिलरूपसे उसका पुनः प्रचार कराया।] अथवा, *'प्रगट बखाना'*= साक्षात्कार करके बखान किया। यह कहकर दूसरे चरणमें सांख्यशास्त्रका विषय कहते हैं। (ख) *'तत्वबिचार निपुन भगवाना'* अर्थात् सांख्यशास्त्रमें तत्त्वका विचार है। तत्त्व ऐश्वर्य हैं, उन्हींके विचारमें निपुण हैं; इसीसे 'भगवान' कहा। इस तरह भगवान्‌का कपिलदेवरूपमें अवतार कहा और 'सांख्यसास्त्र बखाना' यह उनके अवतारका हेतु कहा। (ग) ☞मनुमहाराजके तीन कन्याएँ हुईं। उनमेंसे देवहूतिको यहाँ कहा, क्योंकि इनके उदरसे कपिलभगवान्‌का अवतार हुआ।

नोट—१ *'सांख्य सास्त्र'* इति। इसमें त्रिविध दुःखोंकी अतिशय निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। यह छः अध्यायोंमें कहा गया है। प्रथम अध्यायमें विषयोंका निरूपण है। दूसरेमें प्रधान कार्योंका वर्णन है। तीसरेमें विषय-वैराग्य है। चौथेमें पिङ्गलकुमारादि विरक्तोंकी आख्यायिका है। पाँचवेंमें परपक्षका निर्णय है और छठेमें समस्त अर्थोंका संक्षेप है। प्रकृति-पुरुषका ज्ञान ही सांख्यशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है।—इसपर सांख्यसूत्र, गौड़पादाचार्यका भाष्य तथा वाचस्पति मिश्रकी *'सांख्यतत्त्व-कौमुदी'* नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

श० सा०—कपिलभगवान्‌ने सांख्यशास्त्रमें दो ही तत्त्व प्रधान कहे। एक प्रकृति, दूसरा पुरुष। प्रकृति दो प्रकारकी कहीं—प्रकृति और विकृति। मूल प्रकृति अविकृति है और महदादि सप्त प्रकृति-विकृति दोनों हैं; पुरुष न प्रकृति है न विकृति। प्रकृतिके २४ तत्त्व हैं—महत्तत्त्व, अहंकार, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, वाक्, पाणि, पायु, पाद, उपस्थ, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। मूल प्रकृतिसे शेष तत्त्वोंको उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है।—प्रकृतिसे महत्तत्त्व (बुद्धि), महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे १६ पदार्थ—दसों ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पञ्च तन्मात्राओंसे पञ्चमहाभूत। (पृथ्वी, जल इत्यादि) प्रलयकालमें ये सब तत्त्व फिर प्रकृतिमें क्रमशः विलीन हो जाते हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'तेहि मनु'* इति। 'तेहि' का सम्बन्ध 'जेहि' से है। *'जिन्ह तें भै नर सृष्टि अनूपा'* *'अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका'* *'तेहि मनु।'* 'तेहि' अर्थात् जिनके ऐसे-ऐसे पुत्र और कन्याएँ हुईं, जिनकी संतानसे भक्त और भगवान् दोनोंके अवतार हुए उन स्वायम्भुव मनुने (ख) *'राज कीन्ह बहु काला।'* अर्थात् बहुत कालपर्यन्त राज्यसुखभोग किया। उसके बादका हाल आगे कहते हैं। बहुत काल राज्य करनेका कारण दूसरे चरणमें कहते हैं कि *'प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला।'* 'प्रभु' से यहाँ ब्रह्माको समझना चाहिये (जैसा श्रीमद्भागवतसे स्पष्ट है। अथवा वह भी भगवान्‌की ही आज्ञा थी—*'ईस रजाइ सीस सब ही के।'*) मैथुनद्वारा मनुष्य-सृष्टि करके प्रजाकी वृद्धि की, प्रजाका पालन किया, धर्मका आचरण किया, जैसा ऊपर कह आये। यह सब प्रभुकी आज्ञा थी। उन्हींकी आज्ञासे बहुत दिन राज्य किया, नहीं तो उनको कुछ भोगकी इच्छा न थी। यह भाव *'प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला'* का है। [(ग) वेदमें जो वाक्य आज्ञारूपसे कहे गये हैं। जैसे—**सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव** इत्यादि—सत्य बोलो, धर्माचरण करो, माँको देवता मानो, इत्यादि) ये ही धर्म हैं। वेद ईश्वरके वाक्य हैं। अतः उनकी आज्ञा प्रभुकी आज्ञा है। (वि० त्रि०) *'बहु काला'* अर्थात् ७१ चतुर्युग राज्य करनेपर जब फिर सत्ययुग आया तब उसके भी लगभग १८५१४२ वर्ष और कुछ दिन राज्य किया तब तपस्या करने गये।—(वै०)]

नोट—२ *'प्रभु आयसु बहु बिधि प्रतिपाला।'* इति। भा० स्कं० ३ अ० १३ में यह कथा यों है

कि—'मनुशतरूपाजीके उत्पन्न होनेपर इन दोनोंने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि हमें जो आज्ञा दीजिये वह हम करें। ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि 'तुम अपने सदृश संतान उत्पन्न करके धर्मसे प्रजाका पालन करो और यज्ञ करके यज्ञ-पुरुषका भजन करो। इससे मेरी परम शुश्रूषा होगी और परमेश्वर प्रजापालनसे तुमपर प्रसन्न होंगे। प्रभुकी प्रसन्नता तथा ब्रह्मा-(पिता-)की आज्ञाको अपना धर्म समझकर इतने कालतक राज्यकर प्रजाका पालन किया, राज्यभोगकी इच्छासे नहीं। (अ० १३ श्लोक ६—१४) पुनः,

नोट—३ ***'सब बिधि'*** अर्थात् 'प्रभुकी आज्ञा जिस विधिकी थी उसी सब विधिसे उसका पालन किया। यहाँ प्रभुकी आज्ञा धर्मपालन है, अतएव आज्ञापालनहीको धर्म ठहराकर इस प्रसङ्गको धर्महीपर सम्पुट किया। (प्र० सं०) अथवा ४—प्रभुकी आज्ञा वेद है। वेदके अनुसार राज्य-धर्म प्रजापालन आदि और आश्रमधर्मानुरूप धर्म किये। (रा० प्र०) अथवा ५—वेदमें जितने विधिकर्म हैं वे सब किये। इत्यादि। इससे मनुजीका श्रद्धातिरेक दिखाया।

टिप्पणी—४ ***'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन'*** इति। (क) चौथापन वैराग्यका समय है। चौथेपनमें राजाओंके लिये वन जानेकी आज्ञा नीतिमें है, यथा—***'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥'*** (६। ७), ***'अंतहु उचित नृपहि बनबासू॥'*** (२। ५६) अतः जब चौथापन आया तब वैराग्य उत्पन्न हुआ।

पुनः भली प्रकार धर्मका सेवन करनेसे वैराग्य उदय होता है। धर्म-सेवन ऊपर लिख आये—***'दंपति धरम आचरन नीका।'*** अतः अब वैराग्य हुआ। इसीसे प्रथम धर्म कहकर तब यहाँ वैराग्य होना और तब भक्ति क्रमसे कही। (ख)***'जनम गएउ हरि भगति बिनु'*** इति। वैराग्यसे भगवत्-धर्मकी प्राप्ति होती है, वही यहाँ कहते हैं कि वैराग्य न हुआ, जन्म हरिभक्ति बिना व्यर्थ बीता जा रहा है। धर्मसे वैराग्य और वैराग्यसे भक्ति होती है यथा—***'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥'*** (३। १६) (ग)***'बहुत दुख लाग'*** के कारण दो कहे—एक तो यह कि विषय-भोग करते युग-के-युग बीत गये, दूसरे यह कि घरमें बसते हुए चौथापन हो गया, जन्म भगवद्भक्तिरहित बीता जा रहा है। ☞विषयभोग तथा भवनमें बने रहने इन दोनोंकी ओरसे ग्लानि हुई। तात्पर्य कि अब दोनोंको त्याग देना चाहते हैं; क्योंकि विषयभोगसे भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, यथा—***'राम प्रेम पथ पेखिए दिये बिषय तन पीठि। तुलसी केंचुलि परिहरे होति साँपहू डीठि॥'*** [☞देखिये मनुमहाराजको ***'बिषय और भवन'*** दोकी ग्लानि हुई और छोटे-बड़े सभी जीवोंका आजकल प्रायः इन दोनोंकी ही चाहमें सारा जन्म बीत जाता है और मरते समय भी इनकी तृष्णा नहीं जाती।] बिना हरिभक्तिके जन्म व्यर्थ गया, इस कथनमें 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है।

नोट—४ ***'भवन बसत भा चौथपन'*** कहकर सूचित किया कि चौथेपनके आ जानेतक इन्होंने राज्य किया। (पंजाबीजी लिखते हैं कि मनुजीका विषयोंमें आसक्त होना नहीं कहा जा सकता। अतएव 'विराग' का अर्थ 'त्यागका अवकाश' लेना चाहिये। अर्थ है कि गृहस्थीमें विषयोंसे वैराग्यका अवकाश नहीं मिलता, यह चिन्ता हुई। वैराग्यका उदय यहाँ लोकशिक्षार्थ है।)

नोट—☞५—जिन मनुमहाराजके कुलमें ध्रुव, प्रियव्रत आदि ऐसे-ऐसे परमभक्त हुए। उनका यह सिद्धान्त है कि घरमें विषयोंसे वैराग्य होना कठिन है। यथा—***'सुरराज सों राज-समाज, समृद्धि बिरंचिधनाधिप सों धनु भो। पवमान सो, पावक सो, जम सोम सो पूषन सो, भवभूषन भो॥ करि जोग समाधि समीरन साधिकैं, धीर बड़ो बसहू मन भो। सब जाइ सुभाय कहै तुलसी जो न जानकि जीवनको जन भो॥'*** (क० उ० ४२) ***'झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद अंबु चुचाते। तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु ते बढ़ि जाते॥ भीतर चंद्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते। ऐसे भए तो कहा तुलसी जो पै जानकी-नाथके रंग न राते॥'*** (क० उ० ४४)

प्रियव्रतके मनमें जब वैराग्य उत्पन्न हुआ, उनके उस समयके विचार श्रीमद्भागवतमें यों दिये हैं

कि 'वह ऐसा विचार करके पश्चात्ताप करने लगे कि अहो! राज्य-भोगमें पड़कर मैं मङ्गलमार्गसे भ्रष्ट हो गया। अहो! मैंने बहुत ही बुरा किया। इन्द्रियोंने मुझे अविद्यारचित विषम विषयोंके गढ़ेमें गिरा दिया। मेरा जन्म ही वृथा बीता जाता है। बस, अब विषयभोगको त्याग करना चाहिये·······'—(स्कंध ५ अ० १) यथा—'**अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे। तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार॥**' (३७)

नोट—६ मनुजीने आयुभर धर्महीका पालन किया, उनको तो पश्चात्ताप न होना चाहिये था। गोस्वामीजीकी उपदेशशैली बड़ी अद्भुत है। धर्मोंसे सुख-भोग प्राप्त होता है, भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती और बिना भक्तिके मुक्ति नहीं—'*बिनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।*' इसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। अन्य धर्म करना सूदपर रुपया लगाना है (स्नेहलताजी)

बरबस राज सुतहि तब* दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥ १॥
तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधि दाता॥ २॥
बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा। तहँ हिअ हरषि चलेउ मनु राजा॥ ३॥
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा॥ ४॥
पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥ ५॥

शब्दार्थ—**बरबस**=(बल+वश)=हठात्, जबरदस्ती। **धेनुमति**=गोमती। **तीरथ** (तीर्थ)=पवित्र स्थान जहाँ धर्मभावसे लोग यात्रा, पूजा, स्नान, दर्शनादिके लिये जाते हों। साधुओंका दर्शन भी तीर्थ है।

अर्थ—तब (उन्होंने) हठात् (विवश होकर) पुत्रको राज्य दिया और स्त्रीसहित वनको चलते हुए॥ १॥ तीर्थमें श्रेष्ठ, अत्यन्त पवित्र और साधकोंको सिद्ध कर देनेवाला नैमिषारण्य (नीमसार तीर्थ) प्रसिद्ध है॥ २॥ वहाँ 'मुनियों और सिद्धों' के समाज-के-समाज बसते हैं। मनुमहाराज मनमें प्रसन्न होकर वहाँको चले॥ ३॥ धीरबुद्धि (राजा और रानी) मार्गमें चलते हुए (ऐसे) शोभित हो रहे हैं मानो ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण किये हुए (जा रहे) हैं॥ ४॥ वे जाकर गोमती नदीके तटपर पहुँचे और निर्मल जलमें प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने स्नान किया॥ ५॥

टिप्पणी—१ '*बरबस*' शब्दसे पुत्रकी पितृभक्ति दिखायी। और '*नारि समेत*' कहकर रानीका पातिव्रत्यधर्म दिखाया और सूचित किया कि वानप्रस्थ-धर्म धारण किया है। यहाँ 'सुत' से जनाया कि राज्य ज्येष्ठ पुत्रको दिया। बड़ा ही पुत्र राज्याधिकारी होता है इसीसे उसके साथ प्रथम ही नृपपद दे आये हैं। यथा—'*नृप उत्तानपाद सुत जासू।*'

नोट—१ पं० रामकुमारजीके मतानुसार उत्तानपादको राज्य हुआ, क्योंकि वह बड़ा लड़का था। कल्पान्तरभेदसे ऐसा हो सकता है।

इस प्रसङ्गके विषयमें श्रीमद्भागवत आदिमें जो इतिहास मिलता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि उत्तानपाद और फिर उनकी संतान राज्य-भोग करते रहे। साथ ही यह भी इतिहास है कि मनुमहाराजने प्रियव्रतको बरबस राज्य देकर वनगमन किया। उत्तानपादके विषयमें बरबस राज्य दिया जाना नहीं पाया जाता। इन दो परस्पर विरोधी बातोंका मेल यों हो सकता है कि मनुको मन्वन्तर भोग करना होता है पर उनकी संतानको तो वह आयु मिलती नहीं। पृथ्वीका राज्य उन्होंने उत्तानपादको दिया, उनके बाद ध्रुवजी आदि राजा हुए। प्रियव्रतजी तपस्या करते रहे। नारदजीसे ज्ञान पाकर वे निवृत्तिमार्गपर आरूढ़ हो गये थे। मन्वन्तर समाप्त होनेके पूर्व ही राजा उत्तानपादके वंशमें कोई न रह गया तब प्रियव्रतको जबरदस्ती राज्य दिया। मनुजीके कहनेपर भी उन्होंने राज्य करना स्वीकार न किया तब ब्रह्माजीने आकर समझाया। यह कथा (स्कं० ५ अ० १) में है।

* नृप—भा० दा०, १७२१, को० रा०। पुनि-छ०। तब—१६६१, १७०४, १७६२।

इस प्रकार कहीं विरोध नहीं रह जाता। अथवा यही कह सकते हैं कि *'कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥ करिय न संसय अस जिय जानी।'* इस भावकी पुष्टि श्रीसन्तसिंह पंजाबीजीकी टीकासे होती है। और स्वामी पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीकी भी सम्मति इसमें पायी जाती है।

नोट—२ *'नैमिष'* 'नैमिषारण्य' (नीमसार)—यह स्थान अवधके सीतापुर जिलेमें है। इसके सम्बन्धमें दो प्रकारकी कथाएँ हैं। (१) वराहपुराणमें लिखा है कि इस स्थानपर गौरमुख नामक मुनिने निमिषमात्रमें असुरोंकी बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी इसीसे इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा। (२) देवीभागवतमें लिखा है कि ऋषिलोग जब कलिकालके भयसे बहुत घबराये तब ब्रह्माने उन्हें एक मनोमय चक्र देकर कहा कि तुमलोग इस चक्रके पीछे चलो, जहाँ इसकी नेमि (घेरा, चक्कर) विशीर्ण हो जाय उसे अत्यन्त पवित्र स्थान समझना। वहाँ रहनेसे तुम्हें कलिका कोई भय न रहेगा। कहते हैं कि सूतजी-(सौत मुनि-) ने इस स्थानपर ऋषियोंको एकत्र करके महाभारतकी कथा कही थी। (३) विष्णुपुराणमें लिखा है कि इस क्षेत्रमें गोमतीमें स्नान करनेसे सब पापोंका क्षय होता है।

नोट—३ ऊपरके *'होइ न बिषय.........'* इस दोहेमें तीन बातें कही थीं। उन्हींको अब चरितार्थ करते हैं। *'होइ न बिषय बिराग'* अतएव *'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।'* *'भवन बसत भा चौथपन हृदय बहुत दुख लाग।'*, अतएव राज्य त्यागकर *'गवन बन कीन्हा।'* और, जो पूर्व कहा कि *'जनम गएउ हरिभगति बिनु'* इसके सम्बन्धमें आगे कहेंगे कि *'बासुदेव-पद-पंकरुह दंपति मन अति लाग।'*

नोट—४ (क) *'साधक सिधि दाता। बसहिं तहाँ मुनि सिद्धि.........'* इति।—साधक लोग सिद्धि पाकर सिद्ध हो जाते हैं और साधनरहित होकर वहाँ बसते हैं। विषयी, साधक और सिद्ध तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं, यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२। २७७) इनमेंसे यहाँ केवल साधक और सिद्ध बसते हैं, विषयी नहीं; अतएव दोहीका बसना कहा। (ख) *'हिय हरषि'*— मनका हर्षित होना कार्य-सिद्धिका शकुन है, यथा—*'होइहि काज मन हरष बिसेषी'*, *'हरषि चले मुनि भय हरन।'*

नोट—५ नैमिषारण्य ही क्यों गये अन्यत्र क्यों नहीं? इसके विषयमें बाबा सरयूदासजी लिखते हैं कि 'तपके लिये सत्ययुगमें नैमिषारण्य, त्रेतायुगमें पुष्कर, द्वापरमें कुरुक्षेत्र और कलियुगमें गङ्गातट विशेषरूपसे शीघ्र फलदायक कहे गये हैं, यथा—कूर्मपुराणे—'**कृते तु नैमिषं तीर्थं त्रेतायां पुष्करं वरम्। द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गा विशिष्यते॥**' (बाबा सरयूदासकी गुटकासे)

टिप्पणी—२ (क) *'पंथ जात सोहहिं.........ज्ञान भगति.........'* इति।—पृथ्वीभरका राज्य छोड़ पैदल, नंगे पैर पन्थमें चलना भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शोभा है। ज्ञानी, वैरागी भक्त कहलाकर सवारी विशेष संग लेना शोभा नहीं है। [(ख) **धीर**=जिनके मनमें कामक्रोधादिके वेगसे उद्वेग न हो। यथा—'**वेगेनावध्यमानेत्वममिते कामक्रोधयोः। गदिते धीमतां धैर्य बले भूपति तेजसि॥**' (भ० गु० द०। वै०) **धीर मति**=स्थिर बुद्धिवाले। (ग) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि दम्पति भगवान्की प्राप्तिके लिये जा रहे हैं। भक्ति और ज्ञान भी भगवत् प्राप्ति करते हैं, अतएव दम्पति राहमें जाते ऐसे जान पड़ते हैं मानो भक्ति और ज्ञान ही प्रभुसे मिलने जा रहे हैं। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। (घ) *'हरषि नहाने निर्मल नीरा'* इति।—उत्साहपूर्वक स्नान करनेका माहात्म्य बहुत है; उत्साह भङ्ग होनेसे धन, धर्म नष्ट होता है। *'निर्मल नीरा'* से जनाया कि वर्षा ऋतु नहीं है। ३९,६,४४,४,४४,८ देखिये। तीर्थमें जाय तो प्रथम उसका माहात्म्य सुने। माहात्म्य सुननेसे स्नानमें उत्साह होता है और तब हर्षपूर्वक स्नान किया जाता है। उसी नियमसे यहाँ स्नान जनाया। यथा—*'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए।'* (२१२। २-३) *'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाए सरित बर सिय समेत दोउ भाइ॥'* (२। १३२) *'कहि सिय लखनहिं सबहिं सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥ करि प्रनाम......... ।.........मुदित नहाइ.........।'* (२। १०६) *'देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोकनिसेनी॥.........पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह।'* (६। ११९) इत्यादि]

आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥६॥
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए॥७॥
कृस सरीर मुनिपट परिधाना। सत* समाज नित सुनहिं पुराना॥८॥
दोहा—द्वादश अच्छर मंत्र पुनि† जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥१४३॥

शब्दार्थ—नृपरिषि=राजर्षि। **परिधान** (सं०)=नीचे पहननेका वस्त्र।=पहननेका वस्त्र=कपड़ा पहनना।

अर्थ—धर्मधुरन्धर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आये॥६॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियोंने उनको आदरपूर्वक करा दिये॥७॥ शरीर दुबला है, मुनिवस्त्र (वल्कल-कौपीन आदि) उनके पहननेके वस्त्र थे। वे संतसमाजमें नित्यप्रति पुराण सुना करते थे॥८॥ और प्रेमपूर्वक द्वादशाक्षर मन्त्र जपते थे। 'वासुदेव' भगवान्‌के चरणकमलोंमें राजा-रानीका मन बहुत ही लग गया॥१४३॥

नोट—१ '*आए मिलन सिद्ध मुनि*.........' इति। राजाके पास मुनिगण आये। इसका कारण यह है कि मनुमहाराज बड़े ही धर्मधुरंधर राजा हुए। मुनिगण जहाँ वैराग्य और अनुरागकी अतिशयता अनुभव करते हैं वहाँ उनका आदर करते हैं। राज्य छोड़ वानप्रस्थ ले लिया है, अतएव अब राजर्षि हैं—(श्रीरूपकलाजी) पुनः ये तो मानो ज्ञान-भक्तिकी मूर्ति ही हैं, अतएव मुनिगण मानो अपने उपास्यके स्वरूपसे मिलने आये।

बाबा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'सिद्ध लोग इससे मिलने आये कि जिन विषयोंके हेतु हमने नाना साधन करके सिद्धि प्राप्त की है वही सब छोड़कर राजा तप करने आये हैं, अतएव हमसे श्रेष्ठ हैं। मुनि मननशील वैरागी इससे मिलने आये कि जैसे हमको संसारी पदार्थोंसे घृणा है वैसे ही राजाको भी है, अतएव हमारे समान शीलवान् हैं और ज्ञानी इससे मिलने आये कि राजाको वैराग्य हुआ है, वह तत्त्वज्ञानका जिज्ञासु है, उसे उपदेश देना होगा। दूसरे इनका धर्मात्माओंसे स्वाभाविक स्नेह होता है और राजा धर्मधुरन्धर है।' इससे जनाया कि मुनि सिद्ध ज्ञानीके समाजमें धर्म, भक्ति और ज्ञानका आदर है, ऐश्वर्यका नहीं।

नोट—२ '*मुनिन्ह सकल सादर करवाये*' इति। नैमिषारण्यक्षेत्रके मध्यमें अनेक तीर्थ हैं जैसे कि मिश्रिख, पञ्चप्रयाग, चक्रतीर्थ इत्यादि। ये ही सकल तीर्थसे अभिप्रेत हैं। 'सादर' का भाव कि प्रत्येक तीर्थका नाम, माहात्म्य, दर्शन और सेवन-विधि इत्यादि बता-बताकर विधिपूर्वक दान-मानसहित तीर्थ करवा देते थे जिससे दम्पतिको यथार्थ फलकी प्राप्ति हो।

टिप्पणी—१ (क) राजारानी किस प्रकार रहते थे, उनकी नित्य चर्या क्या थी यह यहाँ बताया है, तीर्थवास, फल-फूल-भोजन, वल्कल वस्त्र। इससे शरीर दुबला हो गया है, कुछ काल तीर्थदर्शन ही करते रहे, पुनः संत-समाजमें पुराणादि सुनते रहे, पुनः, रात-दिन अनुरागसहित मन्त्र जपने लगे। (ख) '*सहित अनुराग*' इति।—अनुरागसे कार्य सिद्ध होता है, यथा—'*रामनाम जपु जिय सदा सानुराग रे*' (विनय०) '*मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किए जोग तप ग्यान बिरागा॥*' (७। ६२। १) (ग) '*द्वादश अच्छर मंत्र*.........। *बासुदेवपद*.......' इति—'वासुदेवपद' देकर द्वादश अक्षर मन्त्रकी व्याप्ति मिटायी अर्थात् और मन्त्र नहीं वासुदेवमन्त्र ही जपा। मूर्तिके ध्यानसहित अनुरागपूर्वक मन्त्र जपनेसे इष्टका शीघ्र साक्षात्कार होता है—यह विधि है। यहाँ वासुदेव, सच्चिदानन्द, ब्रह्म, हरि, ये सब श्रीराम ही हैं क्योंकि श्रीराम ही अन्तमें प्रकट हुए। यथा—'*ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप।*', 'रामाख्यमीशं हरिम्', 'यदक्षरं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्।' (अ० रा० ७। ८। ६८)। (घ) '*सतसमाज नित सुनहिं पुराना*' कहकर '*द्वादश*.......' कहनेसे पाया गया कि सत्सङ्ग और हरिकथाश्रवणसे हरिभक्ति होती है।

* संतसमाज १७६२। 'संत सभा'। (पं०) †मंत्र बर। (बै०)।

* द्वादश अक्षर मन्त्र *

पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीका मत है कि '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' यही द्वादशाक्षर वासुदेव मन्त्र है। श्रीनारदजीने यही मन्त्र ध्रुवजीको बताया था। यथा—'**जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज। यं सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान् पश्यति खेचरान्॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुधः। सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥**' (भा० स्कं० ४ अ० ८। ५३-५४) अर्थात् 'हे राजपुत्र! इसके साथ-साथ जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना आवश्यक है वह भी बतलाता हूँ। इसका सात रात्रि जप करनेसे मनुष्यको सिद्धोंका दर्शन होता है। वह मन्त्र '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' है। देशकालके विभागको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इस मन्त्रद्वारा भगवान्‌की नाना सामग्रियोंसे पूजा करें। (भा०) वासुदेव-मन्त्र पर-वासुदेव और चतुर्व्यूहगत वासुदेव दोनोंका वाचक है। ध्रुवजीको राज्यकी कामना थी। अतएव उनको चतुर्भुजरूपका ध्यान नारदजीने बताया था। जिस मूर्तिका ध्यान किया जाता है वही स्वरूप प्रकट होता है। नारद पाञ्चरात्रमें पर-वासुदेवकी मूर्तिका ध्यान यह लिखा है।—'**मरीचिमण्डलं संस्थं बाणाद्यायुधभूषितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रञ्च रूपमाद्यमिदं हरेः॥**' अर्थात् तेजके मण्डलमें स्थित, बाण आदि आयुधसे युक्त द्विभुज, एक मुख हरिभगवान्‌का यही आदि रूप है।

मनुशतरूपाजीने वासुदेव मन्त्रका जप किया और पर वासुदेवका ध्यान किया—परन्तु निष्काम होकर, अतएव उनको परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन हुआ।

कुछ लोगोंका कहना है कि श्रीसीतारामजी मनुशतरूपाजीके सामने प्रकट हुए हैं इससे यहाँ श्रीराम-सीताजीका ही मन्त्र अभिप्रेत है। श्रीराम षडक्षर मन्त्र तथा श्रीसीता षडक्षर मन्त्र दोनों मिलकर द्वादशाक्षर-मन्त्र हुआ।' इन दोनों मन्त्रोंका जप वैष्णवोंमें एक साथ किया जाता है। परन्तु दोहेमें मन्त्रका विशेषण '*द्वादश अक्षर*' है जिससे जान पड़ता है कि मन्त्र एक ही है, दो नहीं और वह मन्त्र बारह अक्षरका है। वासुदेव मन्त्रसे श्रीसीतारामजीका प्रकट होना वैसे ही है जैसे रामनामके जपसे प्रह्लादके लिये 'नृसिंह' का। सत्योपाख्यानमें श्रीसीतारामजीका ध्यान करते हुए द्वादशाक्षर मन्त्रके जपका माहात्म्य भी बताया गया है। यथा—'**ध्यायन्ननन्यभावेन द्वादशाक्षरमन्वहम्। पूजयेद्विधितो नित्यं श्रीरामं न्यासपूर्वकम्॥**' (पू० अ० ३२। २३) फिर सुतीक्ष्णजीके पूछनेपर अगस्त्यजीने बताया है कि '**प्रणवं पूर्वमुच्चार्य नमः शब्द ततो वदेत्। भगवत्पदमाभाष्य वासुदेवाय इत्यपि॥ ततः सर्वात्मसंयोगयोगपीठात्मने नमः। इति मन्त्रेण तन्मध्ये कुर्यात्पुष्पाञ्जलिं पुनः॥**' (४२) इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि योगपीठात्मक यही मन्त्र श्रीरामजीका है। अतः वासुदेव-मन्त्रसे श्रीसीतारामजी प्रकट हुए इसमें सन्देह नहीं। (मा० त० वि०)

पुनः, वासुदेवका अर्थ है—'जो सब विश्वमें बसा हुआ है और जिसमें सब विश्वका निवास है। महारामायण यथा—'**सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वेऽस्मिन् वसते च यः। तमाहुर्वासुदेवं च योगिनस्तत्त्व-दर्शिनः॥**' (५२। ८९) तब इससे श्रीरामजी क्यों न प्रकट होते! पुनः, यथा—'*बिस्व बास प्रगटे भगवाना।*'

वि० त्रि०—लिखते हैं कि 'पुराणोंमें वासुदेव शब्दका अति उदार अर्थ पाया जाता है। प्रभु समस्त भूतोंमें व्याप्त हैं और समस्त भूत भी उन्हींमें रहते हैं, तथा वे ही/संसारके रचयिता और रक्षक हैं, इसलिये वे वासुदेव कहलाते हैं। यथा—'**भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः॥**' (वि० पु० अंश ६, अ० ५, श्लो० ८२)·········स्वायम्भू मनुकी तपस्याकी कथा कालिकापुराणमें मिलती है, उसमें भी वासुदेवके जपका ही उल्लेख है। यथा—'**ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे। इति जप्यं प्रजपतो मनोः स्वायम्भुवस्य च॥ प्रससाद जगन्नाथः केशवो नचिरादथ।**' अर्थात् '**ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे**' इसे जपते हुए स्वायम्भू मनुपर जगन्नाथ केशवने शीघ्र ही कृपा की। यहाँ '**शुद्धज्ञानस्वरूपिणे**' पद 'भगवते' का अनुवाद है।'

श्रीकरुणासिन्धुजी भी लिखते हैं कि 'वासुदेव, पर पुरुष, ब्रह्म, व्यापक आदि जिसको कहते हैं वह रामचन्द्रजी ही हैं। प्रमाण सनत्कुमारसंहिता यथा—'**नमोऽस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः। नमोऽस्तु रामदेवाय**

जगदानन्दरूपिणे॥ कौसल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्॥' रा० प्र० कार लिखते हैं कि द्वादश अक्षर-मन्त्र राममन्त्रका अङ्गभूत है, उसीको जपते हैं।

पं० शिवलालपाठकजीका मत यहाँ भिन्न है। पाठकजी कहते हैं कि 'वासुदेव' शब्द यहाँ लक्षणा है। अर्थात् मुख्य अर्थका बाध करके और अर्थ प्रकट कर और आगे चरण-कमल (पदपंकरुह) लिखा है। पुनः, वासुदेव श्रीरामचन्द्रजीके प्रकाशको कहते हैं, यथा—'**वासुदेवो घनीभूतस्तनु तेजो महाशिवः।**' अतएव वासुदेवसे श्रीरामचन्द्रजी सूचित होते हैं, उनके पदका मुनि ध्यान करते हैं और षडक्षर मन्त्र दोनों जपते हैं। अतएव १२ अक्षर मूलमें कहा है, यह अथर्वण वेदमें लिखा है।—(मानसमयङ्क) श्रीकरुणासिन्धुजीने यह भाव भी दिया है।

नोट—३ 'वासुदेव' पद देनेका कारण यह भी हो सकता है कि श्रीमनुमहाराजने कोई विशेषरूप मनमें नहीं निश्चित किया है जो निर्गुण, सगुण, शिव-भुशुण्डि-मन-मानस-हंस, इत्यादि है उसके दर्शनकी अभिलाषा, उसीके गुणोंका ध्यान चित्तमें है। अतएव ऐसा शब्द यहाँ दिया गया कि जो द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत और उपासकों सभीके अनुकूल है, सभीके मतोंका प्रबोधक है, प्रभुका अवतार गुप्त है; अतएव गुप्त रीतिसे लिखा है।

श्रीरामजीके मन्त्रोंके सम्बन्धमें खोज करनेसे हमें वे० भूषणजीसे मालूम हुआ कि आनन्दरामायणके मनोहरकाण्ड सर्ग १५ में एकाक्षरीसे लेकर पञ्चाशताक्षरीतकके अनेक राममन्त्रोंका उल्लेख है। उनमें एक द्वादशाक्षर मन्त्र भी है। यह एक ही है और उसमें विशेषता यह है कि इस मन्त्रके जपका माहात्म्य भी उसमें साथ-ही-साथ पूरे एक श्लोकमें दिया हुआ है जो बात अन्य मन्त्रोंके साथ प्राप्त नहीं है। मन्त्र और उसका माहात्म्य इस प्रकार है—'**श्रीसीतारामं वन्दे श्रीराजारामम्।' द्वादशाक्षरमन्त्रोऽयं कीर्तनीयो सदा जनैः। वीणावाद्यादिनः पुण्यः सर्ववाञ्छितदायकः।**' (१२९) अतः मेरी समझमें यदि श्रीसीताराम नामात्मक मन्त्र ही लेना हो तो उपर्युक्त द्वादशाक्षरी मन्त्र ले सकते हैं। इसमें श्रीसीता और श्रीराम दोनों नाम भी हैं और यह मन्त्र भी है।

यह खोज इसलिये की गयी कि हारीतसंहितामें श्रीमनुजीका श्रीराम-मन्त्र जपना कहा गया है, यथा—'**श्रीरामाय नमो ह्येतत्तारकं ब्रह्म संज्ञितम्। इममेव जपन्मन्त्रं रुद्रस्त्रिपुरदाहकः। कार्तिकेयो मनुश्चैव देवता त्वं प्रपेदिरे। बालखिल्यादि मुनयो जप्त्वा मुक्ता भवाम्बुधेः॥**'

श्रीरामरहस्योपनिषद्में अनेक राममन्त्र दिये हैं। उनमेंसे एक द्वादशाक्षरमन्त्र यह है—

'**शेषं षडर्णवज्ज्ञेयं न्यासध्यानादिकं बुधैः। द्वादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीरामऋषिरुच्यते॥ जगती छन्द इत्युक्तं श्रीरामो देवता मता। प्रणवो बीजमित्युक्तः क्लीं शक्तिर्ह्रीं च कीलकम्॥ मन्त्रेणाङ्गानि विन्यस्य शिष्टं पूर्ववदाचरेत्। तारं मायां समुच्चार्य भरताग्रज इत्यपि॥ रामं क्लीं वह्निजायान्तं मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः। ॐ हृद्भगवते रामचन्द्रभद्रौ च डेयुतौ॥**' (द्वितीय अध्याय ५१—५४)

संत श्रीगुरुसहायलालजी एक भाव यह भी लिखते हैं कि 'यह जपरीति वानप्रस्थोंकी है। योगियोंकी रीति है कि प्रथम द्वादशाक्षर जप लेते हैं तब प्रणव वा अजपा जप वा क्रिया इत्यादि करते हैं। इसीसे यहाँ द्वादशाक्षरका जप करके तब *'हरि हेतु करन तप लागे।'* (मा० त० वि०)

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥ १॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार* मूल फल त्यागे॥ २॥
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥ ३॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥ ४॥

* अहार—पं० रा० व० श०।

शब्दार्थ—शाक, फल, कंद—(७४। ४) देखिये। **सच्चिदानन्द**=सत् (जो किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, जिसका विनाश न हो) चित् (सर्वप्रकाशक) आनन्द (सुखस्वरूप)।

अर्थ—वे शाक (साग), फल, कन्द (मूल) खाते और सच्चिदानन्द ब्रह्मका स्मरण करते थे॥ १॥ फिर वे हरिके लिये तप करने लगे। मूल-फलको छोड़कर जलहीका आधार (सहारा) लिया॥ २॥ उनके हृदयमें निरन्तर यही लालसा हुआ करती कि उसी परम प्रभुको देखें, जो निर्गुण, अखण्ड (अविच्छिन्न, सम्पूर्ण, जिसके खण्ड न हो सकें), आदि और अन्त (अर्थात् जन्म-मरण) रहित है, जिसका चिन्तन परमार्थवादी (ब्रह्मवादी, तत्त्ववेत्ता) करते हैं॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ (क) *'करहिं अहार साक फल कंदा'* इति। यहाँ शाक, फल, कन्दके आहारका क्रम पार्वतीजीके तपक्रमसे उलटा है, शेष सब क्रम वही है। पार्वतीजीने प्रथम कन्द खाये तब फल फिर शाक और उसके बाद क्रमसे जलपर फिर पवनपर ही रहीं, तदनन्तर उपवास किये, यथा—*'संबत सहस मूल फल खाए। साग खाइ सत बरष गँवाए॥ कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपवासा॥'* (७४। ४-५) मनुजीके तपमें व्यतिक्रम कहकर जनाया कि शाक, फल, कन्द यह सब आहार है। सब आहारको एक कोटिमें रखा! तात्पर्य यह कि शाक, फल और कन्द इनमें कोई नियम नहीं लिया कि शाक ही खायेंगे या कन्द ही खायेंगे अथवा फल ही खायेंगे। इनमेंसे जो मिल गया वही खा लिया। अर्थात् कभी कन्द खाये, कभी शाक और कभी फल ही खाकर रह जाते थे।* पार्वतीजीकी तरह राजाने भी वस्त्र छोड़ दिये, वल्कलवस्त्र पहनते हैं, यथा—*'कृस सरीर मुनिपट परिधाना'*, अन्न भी छोड़ दिया, शाक, फल, कन्द खाते हैं। (ख) *'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।'* भाव कि 'केवल शरीरको 'कष्टा' ही नहीं करते (अर्थात् केवल शारीरिक कष्ट ही नहीं उठाते) किन्तु सच्चिदानन्द ब्रह्मका स्मरण भी करते हैं। सच्चिदानन्दके रूप नहीं है इसीसे उनका सुमिरना लिखा और वासुदेवके रूप है इसीसे दोहेमें वासुदेवपदपंकरुहमें प्रीति करना लिखा। सच्चिदानन्द ब्रह्म ही वासुदेव हुए हैं। यथा—*'राम सच्चिदानंद दिनेसा।'* (११६। ५) *'बिस्वबास प्रगटे भगवाना।'* (१४६। ८) *'जगनिवास प्रभु प्रगटे........।'* (१९१) (दोहेमें जो वासुदेवपदपंकरुह कहा था उसके 'वासुदेव' का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि *'ब्रह्म सच्चिदानंद'* है। श्रीराम ही ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं; यथा—*'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप।'* (७। ४७) *'जय सच्चिदानंद जग पावन।'* (५०। ३)

टिप्पणी—२ *'पुनि हरि हेतु करन तप लागे।..........'* इति। (क) प्रथम शाक, फल, कंद आहार था। अब उनको त्यागकर जलका आधार लिया। इसीसे यहाँ *'पुनि'* पद दिया अर्थात् एक कोटिसे दूसरी कोटिमें गये। इसी तरह जब जल छोड़कर पवनका आधार लिया तब फिर *'पुनि'* पद दिया है—*'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।'* (ख) 'हरि हेतु तप करने लगे', इस कथनका आशय यह है कि पहले मनमें कोई चाह न थी। **'वार्धके मुनिवृत्तीनाम्'** इस न्यायानुसार धर्मपालनार्थ तप और भगवत्-स्मरण करते थे, अब हरिकी प्राप्ति चाहते हैं। वासुदेव, सच्चिदानन्द और हरि एक ही हैं यह जनाया। [दोहा १४३ टि० १ (ग) देखिये] (ग) ☞यहाँसे तप करना कहते हैं, इसीसे यहाँ 'तप' पद दिया और तपका प्रमाण लिखा कि छः हजार वर्ष जल पीकर रहे, सात हजार वर्ष पवन पीकर रहे और दस हजार वर्ष कठिन उपवास किये। शाक, फल और कन्दकी संख्या न की। पार्वतीजीके तपमें शाक-फल और कन्दकी गिनती की थी—*'संबत सहस मूल फल खाए............।'* (७४। ४ देखिये) इस भेदमें तात्पर्य यह है कि पार्वतीजीकी 'लघु अवस्था' है, वे अत्यन्त सुकुमारी हैं—*'अति सुकुमारि न तनु तप जोगू।'* (७४। २) उनका शरीर तपके योग्य न था अतएव उनका (आहारयुक्त भी) इतना तप भारी तप है, बहुत है। इसीसे उनके तपमें शाक, फल और कन्द आहारकी संख्या दी है और 'कठिन व्रत' की गिनती नहीं की (अर्थात् इसमें संख्या नहीं दी कि कितने समयतक जल और पवनपर रहीं। शाकादि आहारकी संख्या दी।) उन्होंने कठिनव्रत बहुत कम दिन किये—*'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपवासा॥'* (७४। ५)

---

* प्र० सं० में हमने लिखा था कि 'पहले कंद-मूल-फल तब शाक चाहिये। यहाँ क्रमभंग क्यों किया? क्रमभंगसे जनाया कि कोई नियम नहीं, जो कुछ मिल गया वही खा लिया।'

थोड़े ही दिनका कठिन तप अवस्थाके विचारसे बहुत भारी और दीर्घ कठिन तपके समान समझा गया। (जैसे ध्रुवका, जिन्होंने केवल ५ ही मासमें त्रैलोक्यको डिगा दिया था।) और मनुजीने सुलभ सामान्य एवं सुगम व्रत कम दिन किये इसीसे उनके तपमें *'सुलभ तप'* की गिनती नहीं है, कठिनव्रत बहुत दिन किये इसीसे कठिन व्रतकी गिनती की गयी। कारण कि मनुजी बड़े पुरुषार्थी हैं। [जन्म होते ही ये ब्रह्माकी आज्ञासे पूर्व भी प्रजापतित्वशक्ति सम्पादनार्थ तप कर चुके थे।] दोनोंके तपोंका मिलान—

पार्वतीजी	मनुशतरूपाजी
१ **संबत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरष गँवाये॥ बेल पाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥**	१ **एहि बिधि बीते बरष षट, सहस बारि आहार। संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर अधार॥ बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ।**
यहाँ बारि, पवन आदिकी संख्या नहीं। (७४। ५—७)	यहाँ कन्दमूल आदिकी संख्या नहीं। (१४४। १)

नोट—१ श्रीबैजनाथजी तथा महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि—'सत्सङ्ग प्रथम भक्ति है उसको किया तो कथा-श्रवण दूसरी भक्ति प्राप्त हुई, इससे निश्चय हुआ कि हमारा क्या कर्तव्य है, किसकी भक्ति करनी चाहिये, क्या मन्त्र जपना चाहिये। आत्मदृष्टिकी शुद्धिके लिये प्रथम वासुदेव मन्त्रका जप किया। उससे अन्त:करण शुद्ध हुआ तब व्यापक अन्तर्यामी ब्रह्मका स्मरण करने लगे। इससे हृदय अत्यन्त शुद्ध हुआ तब हरि **'रामाख्यमीशं हरिम्'** के लिये तप करने लगे।' (श्रीरामजी ही हरि, ब्रह्म, सच्चिदानन्द और वासुदेव हैं यह पूर्व लिखा जा चुका है।)

नोट—२ बैजनाथजी कहते हैं कि सच्चिदानन्दके स्मरणसे पाँच हजार वर्षमें पाँचों तत्त्व, स्थूल शरीर जाग्रत् अवस्था जीत लिये गये और सज्जनता समता छठी और सातवीं भक्ति प्राप्त हुई। अब सूक्ष्म रूपका आधार है; इसीसे फलादिको छोड़कर जल आहार हुआ। फिर हरि श्रीरामजीके हेतु तप करने लगे। नाम-स्मरणरूपमें मन लगा, संतोष किया। यह आठवीं भक्ति हुई। इससे लिङ्ग शरीर स्वप्नावस्था जीते गये। तब सरल स्वभावसे परम प्रभुके लिये निरन्तर अभिलाषा हुई।

नोट—३ *'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥'* इति। (क) 'सोई' अर्थात् जिसको सुमिरते हैं 'उस ब्रह्म सच्चिदानन्द परम प्रभुको आँखों देखें।' उस परम प्रभुके उस ब्रह्म सच्चिदानन्दके लक्षण आगे कहते हैं—*'अगुन अखंड..........'* इत्यादि। (ख) **परम प्रभु**=जो **'अशेष कारण परं रामाख्यं ईशं हरिम्'** है, जो सब प्रभुओंका प्रभु है, यथा—*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* *'सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनु। बिधिहरिहर बंदित पदरेनू॥'* इत्यादि। (ग) *'उर अभिलाष निरंतर होई'* का भाव कि ब्रह्मका आँखोंसे देखना असम्भव है। (उसका मुनियोंको ध्यानमें अनुभवमात्र होता है)। असम्भवमें 'अभिलाषा नहीं होती; (यह साधारणतया देखा ही जाता है कि जो बात असम्भव है उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता, जो सम्भव है उसीकी अभिलाषा और प्रयत्न भी करते हैं), पर मनुजीके हृदयमें निरन्तर इस असम्भव बातकी (ब्रह्मको नेत्रोंसे देखनेकी) अभिलाषा बढ़ती ही जाती है, इसका कारण आगे कहते हैं कि *'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥'* (घ) *'निरंतर होई'* अर्थात् दृढ़ विश्वास है कि पूरी होगी। ['अभिलाषकी परिभाषा यह है—*'नयन बैन मन मिलि रहै चाहै मिल्यो शरीर। कहि केशव अभिलाष यह बरनत हैं मति धीर॥'* (वै०)]

नोट—४ *'अगुन अखंड अनंत अनादी।..........'* इति। (क) त्रिगुणातीत, पूर्ण और आदि-अन्त-रहित। ये सब निर्गुण (अव्यक्त) ब्रह्मके विशेषण हैं। ☞ जहाँ सगुण ब्रह्ममें भ्रम होता है वहाँ ये ही विशेषण

देकर भ्रम दूर करते हैं, यथा—'*गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥ कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई।*' (३। ३९) '*उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई।*' (६। ६०) '*राम अनंत अनंत गुन ....।*' (१। ३३) '*राम अनंत अनंत गुनानी।*' (७। ५२) '*आदि अंत कोउ जासु न पावा।*' (११८। ४) '*पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी।*' (३। ३०) '*जो आनंद सिंधु सुखरासी।....*' (११७। ५) '*निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।*' (७। ९२) तथा'*निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा॥*' (३। २७) इत्यादि। [(ख) '**अखंड**'=अंशकला आदि भेदरहित स्वयं परब्रह्मरूप। **अनन्त**=वेदादि जिसका अन्त नहीं पाते कि उसमें शक्ति, बल, तेज, प्रताप, गुण कितने हैं। (वै०) जो रूप भगवान्ने माता कौसल्याको दिखाया है उसे वक्ताओंने अखण्ड रूप कहा है। यथा—'*देखरावा मातहि निज अद्भुतरूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥*'] (२०१) (ग) '*जेहि चिंतहिं परमारथबादी*' इति। अर्थात् जिसको ब्रह्मवेत्ता भी नहीं समझ सकते, वेद भी नहीं कह सकते, जैसा आगे कहते हैं। परमार्थवादी शिवजी आदि '*अगुण अखण्ड*' आदिका चिन्तन करते हैं, वेद उस स्वरूपका निरूपण '*नेति नेति*' कहकर करते हैं। [प्रकृतिपार होनेसे अगुण, निरवयव होनेसे अखण्ड, नाशरहित होनेसे अनन्त और अज होनेसे अनादि है। वि० त्रि०)]

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद* निरुपाधि अनूपा॥५॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥६॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगतहेतु लीला तनु गहई॥७॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥८॥
दो०—एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥१४४॥

व्याकरण—**ऐसेउ**=ऐसे भी। **सोऊ**=सो भी। तेऊ, इत्यादि।

अर्थ—जिसको वेद नेति-नेति (इति नहीं है, इति नहीं है) कहकर निरूपण करते हैं। जो स्वयं आनन्दरूप, उपाधि और उपमारहित है॥५॥ जिसके अंशसे अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णुभगवान् उत्पन्न होते हैं॥६॥ ऐसे प्रभु (समर्थ) भी सेवकके वश हैं। भक्तोंके लिये लीला-तन ग्रहण करते हैं॥७॥ यदि वेद यह वचन सत्य ही कहते हैं तो हमारी अभिलाषा (अवश्य) पूरी होगी॥८॥ इस प्रकार जलका आहार (भोजन) करते छः हजार वर्ष बीत गये। फिर सात हजार वर्ष वायुके सहारे अर्थात् वायु पीकर रहे॥१४४॥

टिप्पणी—१ (क)'*नेति नेति जेहि बेद निरूपा*' अर्थात् जो वेदके निरूपणमें नहीं आता। (ख)'*निजानंद निरुपाधि अनूपा*' अर्थात् आप आनन्दरूप हैं, मायाकी उपाधिसे रहित हैं और उपमारहित हैं (ग) ☞प्रमाण चार हैं—शब्द, अनुमान, उपमान और प्रत्यक्ष। यहाँ दिखाते हैं कि वह ब्रह्म शब्द, अनुमान और उपमान इन तीनोंसे पृथक् है। '*नेति नेति जेहि बेद निरूपा*' यह शब्द-प्रमाण है, '*जेहि चिंतहिं परमारथबादी*' यह अनुमान-प्रमाण है और '*अनूपा*' यह उपमान है। आगे '*ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई*' यह प्रत्यक्ष प्रमाण कहेंगे। (घ) [प्र० सं० में इस प्रकार था—'न्यायके अनुसार प्रमाणके चार भेद हैं। जिससे पदार्थका

* चिदानंद—१७०४, (परंतु रा० प० में 'निजानंद' है), वै०। निजानंद—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। सं० १६६१ वाली पोथीमें मूलमें 'निजानंद' पाठ है और हाशियेपर 'चिदा' बना है। निजानंदपर हरताल नहीं है। लेख प्राचीन ही दोनों जान पड़ते हैं। शिवजीका पूर्व वाक्य है कि 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा' उसके अनुसार यहाँ मनुजीकी अभिलाषामें 'चिदानंद' पाठ ही समीचीन मालूम होता है। निजानंदका भाव कि स्वयं आनन्दस्वरूप है। और उससे सब आनन्दरूप होते हैं।

ज्ञान होता है।.........' यहाँ इन चारोंको कहा है। परमार्थवादी अगुण आदि अनुमान करते हैं। (*'चिंतहिं'* अनुमान है), *'निरूपा'*, यह उपमान है। वेद शब्द है। (*'नेति नेति'* यह शब्द है) उसमें नहीं आता। और*'लीला तनु गहई'* यह प्रत्यक्ष है।]

वि० त्रि०—*'नेति नेति'*.........' इति। भाव कि वेद कहता है कि स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है। दोनों अवस्थाओंके निषेधसे कोई अभावात्मक न समझ ले, इसलिये निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दरूप कहा। उसे निजानन्द इसलिये कहते हैं कि उसमें अहंकार नहीं है। जितना-जितना अभ्यासयोगसे अहंकारकी विस्मृति होती है, उतना ही सूक्ष्मदृष्टिसे निजानन्दका अनुमान होता है। यथा—'**यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः। तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते॥**' जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा—ये चार प्रकारकी उपाधियाँ हैं। उसमें ये चारों न होनेसे *'निरुपाधि'* कहा। अनूप हैं, अर्थात् उसके सदृश कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी—२*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना'* यह ब्रह्मका ऐश्वर्य कहा। शम्भु, विरंचि, विष्णुभगवान् हैं अर्थात् ये बड़े ऐश्वर्यमान् हैं। ऐसे ऐश्वर्यमान् त्रिदेव उनके अंशसे उत्पन्न हैं। ब्रह्माण्ड भी करोड़ों हैं, जितने ब्रह्माण्ड हैं उतने ही शम्भु, विरंचि और विष्णु हैं। प्रत्येकमें त्रिदेव हैं। इसीसे *'नाना'*—पद दिया। यथा—*'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥'* (७। ८१) *'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।'* (१। १९२) [बैजनाथजी 'नाना' का भाव 'अनेक भाँतिके' लिखते हैं। अर्थात् पञ्चमुखसे लेकर अनन्त मुखके शम्भु, चतुर्मुखसे लेकर अनेक मुखतकके ब्रह्मा और चतुर्भुजसे लेकर अनेक भुजाओं और अनेक मुखोंके विष्णु। साकेतविहारीके अवतारमें लङ्का जीतनेपर देवताओंको अभिमान हुआ उसको भङ्ग करनेके लिये यही प्रभाव श्रीरघुनाथजीने दिखाया था। सिद्धान्ततत्त्वदीपिका इसका प्रमाण है। (वै०) मु० रोशनलाल लिखते हैं कि श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजी श्रीरामजीके अंश हैं, इन्हींसे नाना त्रिदेव उत्पन्न होते हैं। प्रभुने श्रीभरतादिको अपना अंश कहा ही है।—विशेष*'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।'* (१८७। २) में देखिये।

वि० त्रि० का मत है कि 'यहाँ 'अंश' से 'अंश इव अंश' ग्रहण करना होगा, क्योंकि ऊपर उसे अखण्ड अर्थात् निरंश कह आये हैं। जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बका 'अंश इव अंश' है। उसी तरह त्रिदेव उसके प्रतिबिम्बसे उत्पन्न होते हैं।'

टिप्पणी—३*'ऐसेउ प्रभु सेवक'*.........' अर्थात् इतने बड़े ऐश्वर्यमान् स्वामी भी। (क)*'लीला तनु गहई'* का भाव कि शरीर धारण करना प्रभुकी लीला है, अपनी इच्छासे भगवान् रूप बनाकर प्रकट हो जाते हैं, यथा—*'इच्छामय नरबेष सँवारें। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'* (१५२। १) (ख) ☞ब्रह्मके अनेक विशेषण हैं। इसीसे अनेक जगह (कुछ-कुछ) कहकर अनेक विशेषणोंको दिखाया है। भक्तहेतु अवतार होना, लीला करना और दर्शन देना कहा है। यथा—(१)*'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी॥'* (१३। ३। ५) (२) *'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (५१) (३) *'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥ आनन रहित सकल रसभोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥ तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥ जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान।'* (११८), (४)*'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥'* (११६। २), (५)*'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या कें गोद।'* (१९८), (६) *ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप।'* (२०५); (७) *'ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥ मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥ नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल।'* (३४१), (८) *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ सकल*

बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल।' (२। ९३), (९)*ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥ गो-द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी।'* (५। ३९), (१०)*'सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिज्ञान रूप बलधामा॥ ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता॥ अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥ अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृतिपार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'* (७। ७२), तथा यहाँ (११)*'अगुन अखंड अनंत अनादी'* से *'भगत हेतु लीला तनु गहई।'* तक। इत्यादि।—तात्पर्य यह कि जिनके अंशसे ब्रह्मादि उपजते हैं वे भक्तोंके प्रेमसे आप ही आकर उत्पन्न होते हैं।*'ऐसेउ प्रभु'* में माधुर्य कहा, भक्ति और भक्तका महत्त्व दिखाया। यही माधुर्य है।

'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार।·······' ☞इससे जनाया कि वेदके वचनमें जिनका विश्वास है उनको ईश्वरकी प्राप्ति होती है। ☞ *'अभिलाषा'* प्रथम कह आये हैं—*'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥'*, यही उपक्रम है और *'तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।'* यह उपसंहार है। यहाँ 'शब्द प्रमाण अलंकार' है।

नोट—१ (क)*'अगुन अखंड'* से *'अभिलाषा'* तक, यह प्रसङ्ग हृदयकी अभिलाषाका है। अभिलाषा हृदयमें हो रही है। प्रकट किसीसे नहीं करते। (ख)*'सत्य श्रुति भाषा'* इति। अगुण, अखण्डादि विशेषणयुक्त ब्रह्म भक्तोंके लिये अपनी इच्छासे अवतार लेता है और पृथ्वीपर लीला करता है ऐसा श्रुतिभगवती कहती है। (दोहा १३ की चौ० ४) *'तेहि धरि देह चरित कृत नाना'* में रा० पू० ता० और यजुर्वेदके उद्धरण प्रमाणमें दिये गये हैं। ऋग्वेदमें मन्त्ररामायण प्रसिद्ध है। यथा—'**रघुश्येनः पतयदंधो अछायुवाकविर्दीदयद्गोपु गच्छन्॥ सजातोगर्भो असिरोदस्योरग्रे चारुर्विभृत ओषधीषु। चित्रशिशुः परतिमां स्यक्तून्प्रमातृभ्यो अधिक निक्रदद्गाः॥ विष्णुरित्था परममस्य विद्वानजातो बृहन्नभिपाति तृतीयम्। आसायदस्यपयो अक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चंत्यत्र॥ अत उत्वापितुभृतोजनित्रीरंनावृधं प्रतिचरंत्यनैः। ताईप्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता॥ तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन्बिभ्रदेक ऊद्‌र्ध्वस्तस्थौनेम वग्लापयन्ति। मन्त्रयं तेदिवोअमुष्य पृष्टे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥ चत्वारिते असुर्याणिनामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति। त्वमंगतानि विश्वानि वित्सेयेभिः कर्माणिमघवंचकर्थ॥ अमन्दानस्तोमान्प्रभरेमनीषासिंधावधिक्षियतोभाव्यस्य। यो मे सहस्रममिमीतसवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः॥ उपमास्यावास्वनयेन दत्ता वधूमंतो दशरथ सो अस्थुः। षष्टि सहस्र मनु गव्यमागात्सनत्कक्षीवां अभिपित्वे अह्नाम्॥ त्वारिंशद्दशरथस्य शोण सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति। मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवंत उदमृक्षं तपत्राः॥ उपोपमे परामृशमामेदभ्राणिमन्यथाः। सर्वाहमस्मिरोमशा गंधारीणामिवाविका॥ अपालामिंद्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्व चं। महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोस्तम्भनात्सिंधुमर्णवं नृचक्षाः। विश्वामित्रोयदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेषुभिरिन्द्र॥**' (१—१२) इत्यादि सातों काण्ड हैं। (बैजनाथजीकी टीकासे उद्धृत) इस मन्त्ररामायणरूप वचनको विचारकर मनुजीके हृदयमें विश्वास है।

टिप्पणी—४*'एहि बिधि बीते बरष षट सहस·······'* इति (क)*'एहि बिधि'* अर्थात् जल-आहारपर रहते। ☞उत्तरोत्तर कठिन तप करते जाते हैं यह दिखा रहे हैं। जल-आहार कठिन है यह तप छः हजार वर्ष किया। उससे कठिन पवनका आहार है, उसे सात हजार वर्ष किया, उससे भी कठिन उपवास (अर्थात् पवन भी नहीं लेते) है, सो दस हजार वर्ष किया। इस तरह यहाँतक मनुजीके तपकी तीन कोटियाँ (दर्जे) दिखायीं। (१) अन्नका त्याग, शाकादिका आहार। (२) केवल जलका आधार। (३) केवल पवन। आगे चौथी कोटिका तप है। क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णनसे 'सार अलंकार' हुआ।

नोट—२ किसका दर्शन चाहते हैं?*'परम प्रभु'* का जो अखण्ड अनन्त अनादि हैं, जिनका परमार्थवादी चिन्तन करते हैं इत्यादि। एवं जो अपने भक्तोंके प्रेमके वश लीलातन ग्रहण करते हैं। इसमें भाव यह भी है कि हमें उस परमप्रभुका दर्शन हो न कि लीलातनका। दर्शनके बाद लीलातनसे उनको अपना पुत्र होना माँगेंगे।

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद* दोऊ॥ १॥
बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥ २॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहि चलहिं चलाए॥ ३॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहि नहि पीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—अपार=जिसका पार नहीं, असीम, अखण्ड, बहुत बड़ा। **अस्थि**=हड्डी। मनाग (मनाक्)=किञ्चित्, जरा-सा भी, यथा—*'टूटत पिनाकके मनाक बाम रामसे ते नाक बिनु भये भृगु नायक पलकमें।'* धीर=दृढ़ चित्तवाले, धैर्यवान्। साहित्यदर्पणके अनुसार 'धैर्य' नायक या पुरुषके आठ सत्त्वज गुणोंमेंसे एक है।

अर्थ—दस हजार वर्ष इसको भी छोड़े रहे। दोनों एक पैरसे खड़े रहे॥ १॥ उनका बहुत बड़ा अखण्ड तप देखकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश मनुके पास बहुत बार आये॥ २॥ उन्होंने इनको बहुत तरहसे लालच दिया कि वर माँगो पर वे परम धीर हैं, उनके डिगानेसे वे न डिगे॥ ३॥ शरीरमें हड्डीमात्र रह गयी तो भी उनके मनमें जरा भी पीड़ा नहीं हुई॥ ४॥

बाबा हरिदासजी—*'एहि बिधि बीते बरष षट'''''''बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ'* इति। छः हजार वर्षमें षड्विकार और जलतत्त्व जीत लिये, सात हजार वर्षमें मायाके सात आवरण तथा पवनतत्त्व जीते और दस हजार वर्षमें दसों इन्द्रियाँ और दसों दिशाएँ जीतीं।

बैजनाथजी—*'त्यागेउ सोऊ'* अर्थात् पवन खींचते थे वह भी त्याग दिया, अर्थात् श्वास बंदकर नामका स्मरण और रूपका चिन्तन एक पैरपर खड़े होकर करने लगे। यहाँ प्रेमा और परा दोनों भक्तियाँ पूर्ण हैं यह दिखाया। यह प्रेमकी संतृप्त दशा है। आत्मरूपकी अखण्ड प्रीति तैलधारावत् परब्रह्मरूपमें लग गयी, इससे आदि प्रकृतिको जीतकर तुरीयावस्थाको प्राप्त हुए।

टिप्पणी—१ *'बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ।'''''''* इति। (क) दोहेमें *'संबत सप्त सहस'* कहा था, संवत्का अर्थ 'वर्ष' यहाँ स्पष्ट किया। (ख) *'त्यागेउ सोऊ'* अर्थात् पवनका आधार भी त्याग दिया। '**दोऊ**=राजा और रानी दोनों। (ग) ☞ ६००० वर्ष जल पीकर रहे, ७००० वर्ष पवन खाकर रहे, इस तरह क्रमसे कठिन उपवास ८००० वर्षका होना चाहिये था, सो न करके यह अनुष्ठान एकदम १०००० वर्षतक किया। यह व्यतिक्रम क्यों? किस हेतुसे ऐसा किया गया, इस सम्भावित प्रश्नका उत्तर यह है कि जल छोड़कर पवनपर रहे, फिर उसे भी छोड़कर कठिन उपवास करने लगे। अब उसे छोड़े तो इसके आगे तो इससे कठिन और कोई व्रत है नहीं जो करते, इसलिये यही निश्चय किया कि जबतक दर्शन न होंगे इसीपर डटे रहेंगे; इसे न छोड़ेंगे, दर्शन होगा तभी यह तप छूटेगा। (पुनः, भगवान्‌के मिलनेका, उनकी प्राप्तिका, कोई नियम या नियमित समय नहीं है कि वे उतने समयपर अवश्य दर्शन देंगे, इसलिये इस अनुष्ठानके लिये कोई संख्या न दी गयी। जबतक भगवान् दर्शन न देंगे तबतक तपस्या न छोड़ेंगे। बस, अब यही सङ्कल्प है) परमेश्वरके दर्शन देने; न देनेमें अपना कुछ बस तो है ही नहीं, उनकी कृपा उनकी इच्छापर निर्भर है, इससे ये बराबर कठिन उपवास करते ही गये। दस हजार वर्ष बीतनेपर भगवान्‌ने दर्शन दिये, इसीसे दस हजार वर्ष उपासे एक पैरपर जो उस समयतक खड़े बीते थे, खड़े रहना कहा गया। यहाँ *'एक पद'* कहकर जनाया कि पूर्व दोनों पैरोंपर खड़े थे।

टिप्पणी—२ *'बिधि हरि हर तप देखि अपारा'''''''* इति। (क) तपके फलदाता त्रिदेव हैं, इसीसे वे मनुजीके समीप आये। कर्मफल देनेमें विधाता मुख्य हैं, यथा—*'कठिन करमगति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'* इसीसे विधिका नाम प्रथम लिखा। (ख) *'तप देखि अपारा'* अपार तप देखकर आये, इस कथनका भाव यह है कि राजाको तपसे निवृत्त करने आये, जिसमें फल पाकर तप छोड़ दें। (ग) *'मनु समीप आये बहु बारा'* इति। कै बार आये और कब-कब किस समय आये? इसका

* पग—रा० पा०, ना० प्र०, गौड़जी, पं० रा० व० श०। पद-१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० राम।

उत्तर यह है कि तीन बार आये और तीन अवसरोंपर आये। प्रथम जब छः हजार वर्ष जलपर आये, इसके बाद जब सात हजार वर्ष पवन ही खाकर रह गये तब आये और अन्तिम बार जब दस हजार वर्ष उपवास करते हो गये तब आये। (वि० त्रि० का मत है कि पहिली तपस्यापर ब्रह्मा आये, दूसरीमें ब्रह्मा और विष्णु दोनों आये और तीसरीमें विधि-हरि-हर तीनों आये।) पुनः, प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि श्रीपार्वतीजीका तप देखकर ब्रह्माजी समीप नहीं गये थे, वहाँ केवल आकाशवाणी हुई थी। यथा—*'देखि उमहिं तप खीन सरीरा। ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा॥'* (७३। ८) वैसे ही यहाँ आकाशवाणी ही क्यों न हुई? समीप क्यों आये ? इसका उत्तर प्रत्यक्ष है कि राजा ब्रह्मके दर्शनकी अभिलाषासे तप कर रहे हैं—*'देखिय नयन परम प्रभु सोई'।* दर्शनाभिलाषी हैं, इसीसे त्रिदेव यह विचारकर कि हम ब्रह्मके अंश (अंशभूत) हैं, अंश-अंशीसे अभेद है, दर्शन देने आये, दम्पतिसे दर्शन करने और वर माँगनेको कहा। त्रिदेवने विचार किया कि यदि हमसे वर माँग लें तो ब्रह्मको क्यों अवतरना पड़े। इसीसे कई बार आये और बहुत भाँतिसे लोभ दिखाया।

नोट—१ कुछ महानुभाव कहते हैं कि 'मनुजीकी वृत्ति गुणातीतमें लीन है और त्रिदेव गुणमयी हैं। यदि आकाशवाणी होती तो उनको सुनायी ही न देती। अतएव समीप आये'।

नोट—२ पं० शिवलाल पाठकजी*'बहु बारा'* का भावार्थ यों करते हुए प्रश्नका उत्तर देते हैं कि—*'बारा शक्तिन्ह युत लखो, बिधि हरि शंभू आइ। लखि बाणी अनरस तजे, ते सब भजे लजाइ॥'* अर्थात् वे बाराका 'बाला' 'शक्ति', ऐसा अर्थ करते हैं। भाव यह कि त्रिदेव अपनी शक्तियोंसहित आये; परन्तु मनुने उनकी वाणीको निरस समझ त्याग दिया, उनसे वर लेना अङ्गीकार न किया।' (मा० म०)

नोट—३ कुछ लोग कहते हैं कि विधि-हरि-हर एक-एक करके प्रथम आये और अब एक साथ यह समझकर आये कि हम तीनों मिलकर जायेंगे तब ब्रह्म ही स्वरूप हमें मानकर वर माँग लेंगे। अतएव*'बहु बारा'* कहा। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'अव्यक्तके अभिमानसे आविष्ट होकर ईश्वर ही रुद्र, हरि और ब्रह्माके रूपसे तीन प्रकारके होकर दृश्यादृश्यके महासमुदायके अवभासक हुए।'

टिप्पणी—३ (क) *'माँगहु बर बहु भाँति लोभाए'* इति। बर=ईप्सा,—'**वर ईप्सायाम्**'। वर धातु ईप्सा अर्थमें है। ईप्सा=इच्छा। अर्थात् कहा कि जो इच्छा हो सो माँगो। *'बहु भाँति'* यह कि ब्रह्माजीने कहा कि तुम ब्रह्मलोक ले लो, शिवजीने कहा कि तुम हमारे कैलासमें वास करो और विष्णुभगवान्ने कहा कि तुम हमारे वैकुण्ठमें वास करो। इस प्रकार तीनोंने अपने-अपने लोकोंकी प्राप्तिका लोभ दिखाया [अथवा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों माँगनेको कहा, जिससे लोभ उत्पन्न हो। (वै०) वा, कहा कि निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियका विषय नहीं है, वह तो अनुभवगम्य है। यदि मिश्र ब्रह्मका दर्शन भी हो गया तो क्षणभरके लिये हो जायगा, हमलोग भी तो वही हैं। कुछ भी कामना नहीं है तो मोक्ष माँग लो। (वि० त्रि०)] (ख) *'परम धीर नहिं चलहिं चलाए'* अर्थात् लोभमें नहीं पड़ते, तप नहीं छोड़ते। वे ब्रह्मादिसे वर नहीं माँगते, क्योंकि जानते हैं कि ये तो ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न हैं। ब्रह्मादिके डिगानेसे न डिगे इसीसे *'परम धीर'* विशेषण दिया। उनके लोभ दिखानेसे न चलायमान हुए, इससे *'परम धीर'* कहा। पुनः शरीरके कष्टसे न चलायमान हुए, अतः *'परम धीर'* कहा, जैसा आगे कहते हैं कि *'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा॥'*

नोट—४*'परम धीर नहिं चलहिं चलाए'* यही धैर्यवान्का लक्षण है। शुकदेवलालजी लिखते हैं कि 'वे अपनी अनन्यतासे किसीके चलाये कब चलायमान हो सकते हैं कि दूसरेसे वर माँगें—*'बने तो रघुबर ते बनै'*......।' सो ब्रह्मा-शिवकी तो क्या कहें इनका साथी होनेसे विष्णुके देवत्वको भी भगवत्-विभूति मानकर विष्णुसे भी वर ग्रहण न किया। क्योंकि जैसे सूर्यवंश और चन्द्रवंशके सम्बन्धसे रामजीके राघवत्व और कृष्णचन्द्रजीके यादवत्वमें विष्णुविभूति माना गया, ऐसे ही देवत्रयीमें, विष्णुका भी देवत्व विष्णुविभूतिमें माना जाता है।'

नोट—५ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'कामनाके वश न हुए कि कुछ वरदान माँगें। पुनः क्रोधवश हो न चलायमान हुए कि उनसे विमुख भाषण करें अर्थात् कहें कि हम तुमसे वर नहीं माँगते इत्यादि स्थिर रहे,' चलाये न चले।

टिप्पणी—४ (क) *'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा'* इति। जब शाक-फल या कंद खाते रहे तब कृशशरीर हो गये थे—*'कृस सरीर मुनिपट परिधाना।'* जब उपवास किये तब अस्थिमात्र रह गया। रक्त और मांस सब सूख गया। (ख)*'तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा'* का भाव कि तनका क्लेश मनमें व्याप जाता है। मनमें पीड़ा नहीं है, इससे जनाया कि मन भगवान्में लगा हुआ है,*'बासुदेवपद पंकरुह दंपति मन अति लाग।'* (१४३) बिना मनके (होनेसे) शरीरको दुःख न व्यापा। यथा—*'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥', 'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही।'* (५। ३२। २) (सत्ययुगमें अस्थिगत प्राण रहा। सब धातुओंके सूख जानेपर हड्डी-हड्डी रह जानेपर भी इसीसे प्राण नहीं गया। (वि० त्रि०)। ☞ऐसे ही उमाका शरीर तपसे क्षीण हो गया था तब आकाशवाणी हुई थी, यथा—*'देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥'* यह दिखानेका तात्पर्य यह है कि यहींतक तपकी अवधि है, इसके आगे मरणावस्था है। (ग) 'तदपि' का भाव कि जब शरीर अस्थिमात्र रह गया तब बड़ी भारी पीड़ा होनी चाहिये थी, फिर भी जरा-सी भी पीड़ा न हुई।

प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥५॥
माँगु माँगु बरु* भै नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी॥६॥
मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥७॥
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहु अबहि भवन ते आए॥८॥
दोहा—श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात॥१४५॥

अर्थ—सबके हृदयकी जाननेवाले प्रभुने तपस्वी राजा-रानीकी अनन्यगति देख उनको 'निज दास' जाना॥ ५॥ परम गम्भीर कृपारूपी अमृतमें सनी हुई आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो, वर माँगो'॥ ६॥ मरे हुएको जिलानेवाली सुन्दर वाणी कानोंके छेदोंमें होकर जब हृदयमें आयी तब उनके शरीर सुन्दर मोटे-ताजे हो गये, मानो वे अभी-अभी घरसे चले आ रहे हैं॥ ७-८॥ कानोंसे अमृत-समान वचन सुनते ही शरीर पुलकसे प्रफुल्लित हो गया (खिल उठा, हर्षसे रोमाञ्चित हो फूल उठा)। मनुजी (तथा शतरूपाजी) दण्डवत् करके बोले। उनके हृदयमें प्रेम नहीं समाता॥ १४५॥

नोट—१ त्रिदेवके प्रसंगमें*'तप देखि'* और यहाँ 'सर्वज्ञ' कहकर दोनोंमें भेद दिखाया। त्रिदेव तप देखते हैं और प्रभु अन्तःकरणका प्रेम देखते हैं। वे समझ गये कि हमारे दर्शन बिना अब ये शरीर ही त्याग देंगे, अतः बोले।

टिप्पणी—१*'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी।'''''''* इति। (क) सर्वज्ञ हैं, अतः सब जानते हैं। *'गति अनन्य'* अर्थात् हमारी गति छोड़ इनको दूसरी गति नहीं है, यथा—*'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं।'* (२। १३०) *'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।'* (३। १०। ८) गति=शरण। हमारी प्राप्तिके लिये तप करते हैं यह सब जान गये। इसीसे *'सर्बग्य'* कहा। (ख) तीनों देवता फलदाता हैं, इससे

* 'धुनि'—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। 'माँगु माँगु बर' ठीक 'वरं ब्रूहि' का अनुवाद है। बर—को० रा०। बरु—१६६१, १७०४।

वे तप देखकर फल देने आये थे और परमप्रभुने अपना 'निज दास' जानकर कृपा की। राजा परमप्रभुके 'निज दास' हैं। यथा—*'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजहि अभिलाषा॥'* अर्थात् हम भी उनके सेवक हैं। ब्रह्मादिसे वर न माँगा इसीसे 'अनन्यगति' कहा। (*'जरि जाहु सो जीह जो जाचहि औरहि'*) [निज=सच्चा, खास, अनन्य। जो अनन्यगति हैं वे प्रभुको अति प्रिय हैं। यथा—*'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥'* (७। ८६)]

टिप्पणी—२*'माँगु माँगु बरु भै नभबानी।'''''''* इति। (क) ☞त्रिदेव राजाके समीप आये और *'परम प्रभु'* की आकाशवाणी हुई, वे समीप न आये। इसमें अभिप्राय यह है कि जैसे रूपके दर्शनकी चाह दासको होगी वैसा रूप धरकर प्रकट होंगे। पर इसमें यह प्रश्न होता है कि 'प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, जो रुचि है उसे वे जानते हैं, उसीके अनुकूल प्रकट क्यों न हुए?' उत्तर यह है कि यद्यपि स्वामी सर्वज्ञ हैं तथापि सेवकके मुखसे कहलाकर तब प्रकट होंगे। वरदानका यही कायदा (नियम) है कि मुखसे कहलवाकर तब वर दें।—*'बर और हुकुम दिव्य पेखन में'* इति (देव) स्वामीग्रन्थ, यह आगे स्पष्ट है, जैसा मनुने कहा वैसे ही रूपसे प्रकट हुए।

नोट—२ अथवा, त्रिदेव इनके समीप गये तब इन्होंने उनकी ओर देखा भी नहीं। अतएव प्रथम आकाशवाणी हुई। वा, एकदमसे प्रकट होनेसे सम्भव था कि संदेह मनमें बना रह जाता कि ये परात्पर परब्रह्म हैं कि नहीं। दूसरे अत्यन्त हर्षसे प्राणहीका त्याग होना सम्भव था। अतएव थोड़ा सुख पहले दिया, उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट कर दिया, इससे उनको विश्वास होगा और वे दर्शनका लाभ भी पूर्ण रीतिसे उठा सकेंगे।

नोट—३ बाबा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि जबतक पृथ्वीतत्त्वकी प्रधानता रही तबतक उससे उत्पन्न हुए मूल-फलादि खाते रहें। जब धारणा और बढ़ी तब उससे ऊपर जो जलतत्त्व है उसका आहार होने लगा—षट्सहस्र वर्षतक। इससे षट्-विकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मान) छूट गये जिससे त्रिदेवके लुभानेमें न आये, षट्-ऊर्मि (भूख, प्यास, जन्म, मरण, शोक, मोह) भी न रही, षट्चक्र-भेदन कर गये (धौती, वस्ती, कपालादि षट्कर्म जो करते थे वे छूट गये), षट्-ऋतुका प्रभाव भी निकृष्ट हो गया, षड्रस स्वाद जाते रहे। जब 'वारि' आहार भी छूट गया और सात हजार वर्ष समीर-आधारसे रहे तब सप्तावरण दूर हो गये। जब यह भी दस सहस्र वर्ष छोड़े रहे तब दसों इन्द्रियोंके विक्षेप दूर हो गये और दसों दिशाएँ जीत लीं, दस प्राण भी अपने वशमें हो गये। जब तत्त्वके भीतरकी वस्तु वायुतकका निरादर कर दिया और निराधार दस हजार वर्षतक रहे तब निश्चय हो गया कि ब्रह्माण्डके भीतरके न तो किसी देवताकी चाहना है न किसी पदार्थहीकी। सब प्रकार निरवलम्बन होनेपर*'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी''''''''।'*

नोट—४ (क) 'निज दास' और 'अनन्यगति' का अर्थ टिप्पणीमें आ गया। पुनः, यथा—*'बनै तो रघुबरसे बनै कै बिगरै भर पूरि। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबेमें धूरि॥'* (दोहावली) प्रभुको अनन्यदास परम प्रिय हैं। श्रीवचनामृत है कि *'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥'* शुकदेवलालजी 'निज दास' का अर्थ 'अपना आकार-त्रय-सम्पन्न दास अर्थात् अनन्यगति, अनन्यशरण, अनन्यप्रयोजन' करते हैं। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि दो बार माँगु-माँगु कहनेमें गम्भीरता और गोप्यार्थ यह है कि लोक-परलोक दोनों माँग लो। पंजाबीजी कहते हैं कि मनु और शतरूपा दो हैं, अतएव दो बार कहा अथवा, राजाके विशेष सन्तोषार्थ दो बार कहा। (ग) *'माँगु-माँगु'* यह प्रसाद (प्रसन्नता, कृपा) में वीप्सा (और पुनरुक्ति-प्रकाश भी), यह आगे स्पष्ट है, यथा—*'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।'* पुनः-पुनः कथन करना वीप्सा है। *'परम गंभीर'* का भाव कि गम्भीर वाणी तो ब्रह्मादिकी भी थी पर यह 'अति गंभीर' है। कृपारूपी अमृतसे सनी हुई है।—पं० रामकुमारजी)

टिप्पणी—३ (क) '*मृतक जिआवनि गिरा सुहाई।*......' इति। कृपामृतसानी है, अतएव 'मृतकजिआवनी' है। श्रवणको अमृतसमान सुखद है, अतएव 'सुहाई' है, जैसा आगे कहते हैं, '*श्रवन सुधा सम बचन सुनि।*' वाणी श्रवणद्वारा हृदयमें प्रवेश करती है, अतः '*श्रवनरंध्र होइ*......' कहा। अथवा, कृपामृतसानी है इसीसे मृतकजिआवनी है और परम गम्भीर है इसीसे सुहाई है, गम्भीरता वाणीकी शोभा है। (ख) '*हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए*' राजा-रानी दोनोंके शरीर हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर हो गये।' '*सुहाए*' बहुवचन है, क्योंकि दोनोंके लिये आया है। (ग) '*मानो अबहिं भवन तें आए*' अर्थात् जैसे-के-तैसे पूर्ववत् हो गये।

टिप्पणी—४ '*श्रवन सुधा सम बचन सुनि*' इति। (क) सुहावनी वाणीने तनको पुष्ट और सुन्दर कर दिया, यह वाणीका कृत्य कहकर अब राजाका कृत्य कहते हैं। मुखसे भगवान्के दर्शन माँगते हैं, यथा—'*बोले मनु*......' शरीरसे दण्डवत् करते हैं, हृदयमें भगवान्का प्रेम है। तात्पर्य कि राजा-रानी मन-वचन-कर्म तीनोंसे शरण हुए। (ख) '*मानहुँ अबहिं भवन तें आए*' यह पुष्टका स्वरूप दिखाया, अब हृष्टका स्वरूप दिखाते हैं—'*श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।*' शरीरका प्रफुल्लित होना, यही 'हृष्ट' का अर्थ है। ['हृष्ट-पुष्ट' बोली है अर्थात् मोटे-ताजे, आरोग्य, हट्टे-कट्टे। बैजनाथजी—'*रिष्ट-पुष्ट*' पाठ देते हैं और लिखते हैं कि 'रिष्ट' उसे कहते हैं जिसमें अमङ्गल वा विघ्न न व्यापे। यथा—'**रिष्टं क्षेमाशुभाभावेष्वरिष्टे तु शुभाशुभे**' इति। (अमरकोष) अर्थात् अशुभका अभाव। भाव कि शीत-घामादि कुछ छू ही न गये, ऐसा कुशल-क्षेम-पुष्टाङ्ग तन हो गया।' मनुसे यहाँ मनुशतरूपा दोनों अभिप्रेत हैं, जैसा आगेके '*जौं अनाथहित हमपर नेहू*', '*देखहिं हम सो रूप भरि लोचन*' तथा '*दंपति बचन परम प्रिय लागे*' से स्पष्ट है। विशेष (१४६। ७) में देखिये।

नोट—५ यहाँ हृष्ट-पुष्ट होना उत्प्रेक्षाका विषय है, सो पहिले कहकर उसकी उत्प्रेक्षा की गयी कि वह तन कैसा है? कवि अपनी कल्पना-शक्तिसे पाठकका ध्यान धरके लालन-पालन किये हुए शरीरकी ओर तनकी उत्कृष्ट शोभाका अनुमान करानेके लिये खींच ले जाते हैं। अतएव यहाँ '*उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा*' है।

नोट—६ वाणी सुनते ही शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया। विधि-हरि-हर कई बार मनु-शतरूपाजीके समीप प्रत्यक्ष आये—'*मनु समीप आए बहु बारा*' तिसपर भी इनके शरीर क्षीण ही बने रहे थे और यहाँ केवल वाणीके श्रवणमात्रका यह प्रभाव हुआ। ऐसा करके भगवान्ने उनको अपने परात्पर ब्रह्म होनेका निश्चय कराया। (शीलावृत्त)

नोट—७ '*परम गँभीर कृपामृत सानी*', '*मृतक जिआवनि गिरा सुहाई*' और '*श्रवन सुधा सम बचन सुनि*'—यहाँतक अमृतहीका स्वरूप निबाहा है। ईश्वर अमृतस्वरूप है यह वेदोंने कहा है।

बाबा रामप्रसादशरणजी (साकेतवासी)—इस प्रकरणमें तीन-ही-तीनका अद्भुत प्रसङ्ग देखिये। श्रीमनु-शतरूपाजी तीन अवस्था बीतनेपर वन गये। जिस तीर्थमें गये उसमें भी तीन ही अक्षर हैं। 'नैमिष' के अक्षरोंमें भी तीन अवस्थाओंका भाव है। 'नै' अर्थात् नीतिवाली युवावस्था जिसमें राजनीतिसे प्रजाका पालन किया है। 'मि' अर्थात् मिश्रित किशोर-अवस्था जिसमें कुछ बाल्यावस्थाके खेलकी याद और कुछ आनेवाली युवावस्थाकी चैतन्यता है, इसीसे मिश्रित कहा। 'ष' अर्थात् खेलवाली प्रथम अवस्था। तीर्थमें जो सरित धार गोमती है उसमें भी तीन अक्षर हैं। गो (कर्म और ज्ञान-इन्द्रियाँ) + मति (बुद्धि)। कर्म, ज्ञान और बुद्धि ये भी तीन हुए। तीन ही प्रकारके लोग इनसे मिलने आये—'*आए मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी*'। तीर्थमें पहुँचकर ये तीन ही काम करते हैं—'*संतसभा नित सुनहिं पुराना*', '*द्वादस अक्षर मंत्र बर जपहिं सहित अनुराग*' और '*सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा*'। अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंमें तत्पर हैं। '*सुनहिं पुराना*' (कर्म) का नैमिष तीर्थके प्रथमाक्षर 'नै' से सम्बन्ध है क्योंकि पुराणोंमें विधि-निषेध, धर्माधर्मके विवेचनमें नीति ही है। '*द्वादशाक्षर*......' का दूसरे अक्षर 'मि' से सम्बन्ध है, क्योंकि श्रीयुगल सरकारके दोनों षडक्षरमन्त्र मिले हैं इससे मिश्रित कहा। और '*सुमिरहिं ब्रह्म*' से 'ष' से सम्बन्ध है, क्योंकि लीलाविभूति होनेसे यह जगत् ब्रह्मका खेल ही है। पुनः, '*सुनहिं पुराना*' यह श्रवणभक्ति है, '*जपहिं*' यह दूसरी भक्ति है, यथा—'*मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा*' और '*सुमिरहिं ब्रह्म*' यह स्मरण

है।—यहाँ केवल तीन ही क्रियाएँ कहीं और भक्ति हैं नौ। यहाँ एक-एकमें तीन-तीनका अन्तर्भाव है। प्रथम *'संतसभा नित सुनहिं'* में श्रवण, कीर्तन और दास्य तीन भक्तियाँ कहीं। सुननेपर परस्पर अनुकथन होना ही कीर्तन है और सन्तसभामें नित्य नेमसे नम्रतापूर्वक जाना दास्य है। *'मंत्र जपहिं सहित अनुराग'* में अर्चन, वन्दन और पादसेवन कहा। जपसमय ध्यानमें अर्चन-वन्दन हो जाता है। और *'सुमिरहिं ब्रह्म'* में स्मरण, सख्य और आत्मनिवेदन आ गये। जीव-ब्रह्मका सखाभावका सम्बन्ध है—*'स्वारथ रहित सखा सबही के'* । पुनः, लीला भी तीन प्रकारकी है—ऐश्वर्य, माधुर्य, मिश्रित। इनमेंसे *'सुनहिं पुराना'* यह मिश्रित है,*'जपहिं मंत्र'* में केवल माधुर्य है और *'सुमिरहिं ब्रह्म'* इसमें ऐश्वर्य है। श्रीमनुजीका प्रेम माधुर्यमें है और श्रीशतरूपाजीका मिश्रितमें, यह वरसे प्रकट है। तप करनेमें आहार भी तीन ही प्रकारका रहा। यथा—*'करहिं अहार साक फल कंदा'*, *'बारि अहार मूल फल त्यागे'* और *'संबत सप्त सहस्त्र पुनि रहे समीर अधार'।* तपमें कालका नियम भी तीन प्रकारका कहा है, यथा—*'एहि बिधि बीते बर्ष षट सहस बारि आहार'*, *'संबत सप्त सहस्त्र पुनि रहे समीर अधार'* और *'बरष सहसदस त्यागेउ सोऊ'।* जिनके निमित्त तप करते हैं उनके तीन ही विशेषण कहे, यथा—*'बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग'*, *'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा'* और *'पुनि हरि हेतु करन तप लागे।'* ब्रह्मवाणी हुई तब भी तीन ही बातें कहीं—*'श्रवनरंध्र होइ'*, *'उर जब आई'* और *'हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए'*, *'श्रवनसुधा सम बचन''''''''।'* (१४५) में भी अन्तः-करण, बचन और कर्म तीन कहे। (तु० प० ३। १। २)

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधिहरिहर बंदित पद रेनू॥ १॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक॥ २॥
जौ अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥ ३॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥ ४॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥ ५॥

अर्थ—हे सेवकोंके (लिये) कल्पवृक्ष और कामधेनु! सुनिये। आपके चरणरजकी वन्दना विधि-हरि-हर करते हैं॥ १॥ हे सेवा करते ही सुलभ होनेवाले एवं जिनकी सेवा सुलभ है! सम्पूर्ण सुखोंके देनेवाले! शरणागतका पालन करनेवाले और चराचर (मात्र) के स्वामी!॥ २॥ हे अनाथोंका कल्याण करनेवाले! यदि आपका हमपर प्रेम है तो प्रसन्न होकर यह बर दीजिये॥ ३॥ जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है, जिसके लिये मुनि यत्न करते हैं॥ ४॥ जो कागभुशुण्डिजीके मनरूप मानससरका हंस है, (जो) सगुण और निर्गुण (दोनों है), जिसकी वेद बड़ाई करते हैं॥ ५॥

नोट—१ *'सेवक सुरतरु सुरधेनू।''''''''* इति। (क) सुरतरु और सुरधेनु दोनोंहीकी उपमा दी; दोनों मनोरथके देनेवाले हैं। प्रथम सुरतरु कहा, फिर सोचे कि वृक्ष तो जड़ है, जब कोई उसके पास पहुँचे तब वह मनोरथको पूरा करता है और हम असमर्थ हैं, आपतक नहीं पहुँच सकते, आप ही कृपा करके हमारे पास आकर हमारे मनोरथको पूर्ण करें; तब 'सुरधेनु' सम कहा। (ख) यहाँ जो सेवकका *'सुरतरु सुरधेनु'* कहा है इसकी पूर्ति आगे *'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं'* और *'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई'* में की है। इस प्रकार कि गोसाईंसे सुरधेनुका भाव ग्रहण किया और विबुधतरु तो स्पष्ट ही कहा है। (ख) प्र० स्वामी लिखते हैं कि सुरधेनु जब सेवासे प्रसन्न होगी तभी माँगनेपर देगी, वह भला-बुरा, भक्त-अभक्तका विचार भी करती है। सुरतरु न माँगनेपर भी केवल छायाका आश्रय करनेसे सब सोचोंका नाश करता है और माँगते ही अभिमत देता है। यथा—*'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥'* (२। २६७) भगवान् सुरतरु और सुरधेनु दोनोंका काम करते हैं और इससे विशेष मोक्ष या भक्ति भी देते हैं, अतः आगे *'सकल सुखदायक'* कहना पड़ा। दोहा ११३ भी देखिये। (ग) वि० त्रि० लिखते

हैं कि 'सुरतरु और सुरधेनुसे पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों कहा (यथा—'**त्वं स्त्री त्वं पुमान्**')। सुरतरु अभिमतदानि है और सुरधेनु सब सुखखानि है। यथा—'***अभिमतदानि देवतरुवर से', 'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखखानि।***' (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'आकाशवाणीमें माँगु-माँगु दो बार सुन दो रूपका बोध हुआ। इसलिये प्रभुके सम्बोधनहेतु 'सुरतरु' कहा और शक्तिके सम्बोधनके लिये 'सुरधेनु'। आगे इन वचनोंको '***दंपति बचन***' कहा है, इसीसे दोनोंमें एक-एकको लगाते हैं। (ङ) पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि '***दोऊ प्रति दोऊ कहे प्यारी प्रीतम माँग। कामधेन अरु कल्पतरु कह दोऊ अनुराग॥***' अर्थात् 'दोनों प्रिया-प्रीतमने मनु-शतरूपासे पृथक्-पृथक् कहा कि वर माँगो तब मनुने रामचन्द्रको सुरतरु और शतरूपाने जानकीजीको सुरधेनु परमप्रेमयुत कहा'—(मानसमयंक)

टिप्पणी—१ '***सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।***······' इति। (क) भगवान् सेवक-हितकारी हैं इसी बलसे तप किया था, यथा—'***ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तन गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥***' अब इसी बलसे वर माँगते हैं कि आप सेवकके लिये कल्पवृक्ष हैं, कामधेनु हैं। (ख) यहाँ 'सुरतरु' और 'सुरधेनु' दो उपमाएँ देनेका भाव यह है कि जो भक्त आपके यहाँ जाते हैं, उनके लिये कल्पवृक्ष हो और जो आपके यहाँ नहीं पहुँचते उनके लिये कामधेनु हो, उनके पास आप स्वयं जाकर उनके मनोरथ पूर्ण करते हैं। (ग) '***बिधि हरि हर बंदित पद रेनू।***'—त्रिदेव आपके चरणरजकी वन्दना करते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिनकी सेवा ब्रह्मादि करते हैं वे परम प्रभु स्वयं सेवककी सेवा करते हैं। ☞ उपजनेके प्रकरणमें उपजना कहा था; जहाँ '***उपजहिं जासु अंस ते नाना***' कहा वहीं '***भगत हेतु लीला तनु गहई***' कहा, अर्थात् ब्रह्मादिके उपजानेवाले भक्तवश स्वयं 'उपजते' हैं। वैसे ही यहाँ सेवाके प्रकरणमें भक्तका सेवक बनना कहा। जब कहा कि विधि-हरिहर आपकी चरणरजकी वन्दना करते हैं, अर्थात् ब्रह्मादि आपके सेवक हैं तब वहीं यह कहा कि आप अपने भक्तोंके सेवक हैं। भाव कि ब्रह्मादि जिनके सेवक हैं वे ही अपने भक्तोंके सेवक हैं।—यह भाव '***सुनु सेवक सुरतरु***·········' का है। अर्थात् आप सेवककी रुचि पूर्ण करनेमें लगे रहते हैं।

नोट—२ श्रीशुकदेवलालजी लिखते हैं कि 'इस प्रकरणमें विधि-हरि-हर पद व्यामोहक है। वहाँ कोई विद्वान् ऐसे स्थानमें हरिका अर्थ इन्द्रवाचक इन प्रमाणोंसे करते हैं कि देवत्रयमें ब्रह्मा शिवके साथ इन्द्र भी वर्षा करके विश्वका पालन करता है। रामायण, यथा—'**ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्तो युधि रामवध्यम्॥**' भारते मोक्षधर्मे इत्यादि।····· परंतु ऐसा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है।'

नोट—३ '***बिधि हरि हर बंदित पद रेनू***' इति। यथा—'***देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा।***' (५४। ७-८) पूर्व नाना त्रिदेवोंका अंशसे उत्पन्न होना कहा था, अब चरणसेवा करना कहकर यह भी सूचित किया कि त्रिदेव आपकी सेवासे ही प्रभुत्वको एवं अपने-अपने अधिकारको प्राप्त हैं। यथा—'***हरि हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई।***' (वि० १३५) '***जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।***' (५। २१। ५) [पुनः, यथा—वसिष्ठसंहिता—'**जय मत्स्याद्यसंख्येयावतारोद्भवकारण। ब्रह्माविष्णुमहेशादिसंसेव्य चरणाम्बुज॥**' (वै०)]

टिप्पणी—२ '***सेवत सुलभ सकल सुखदायक।***······' इति। (क) सेवा सुलभ है। यथा—'***बलि-पूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति।***' (वि० १०७), '***सकृत प्रनामु किहें अपनाए।***' (२। २९९) जो '***सेवत सुलभ***' है, जिसकी सेवा आसान है, वह सब सुखोंका दाता नहीं होता, अतएव '***सेवत सुलभ***' कहकर फिर 'सकल सुखदायक' भी कहा। इस प्रकार जनाया कि ऐसे एक आप ही हैं, आपमें ये दोनों गुण हैं। '***सकल सुखदायक***' यथा—'***तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम***

सब पूरन करै कृपानिधि तेरो॥' (वि० १६२) (ख) प्रथम सुरतरु और सुरधेनु-समान कहा, अब उन दोनोंके धर्म कहते हैं।*'सेवत सुलभ सकल सुखदायक'* इत्यादि उनके धर्म हैं।*'सकल सुखदायक'* अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके दाता हो। (ग)*'प्रनतपाल सचराचर नायक'* अर्थात् चराचरको पालते हो। यहाँ प्रणतको चराचरसे पृथक् कहनेका भाव कि चराचरकी अपेक्षा प्रणतका विशेष पालन करते हैं। यथा—*'जगपालक बिशेष जन त्राता'।*

प० प० प्र०—*'सेवत सुलभ सकल सुखदायक'* यह चरण उत्तरकाण्डमें श्रीसनकादिककृत स्तुतिमें भी आया है। वहाँ 'सुरतरु सुरधेनु' का उल्लेख प्रथम करके पीछे यह चरण दिया है। यथा—*'प्रनतकाम सुरधेनु कल्पतरु। होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु॥ भव बारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत सुलभ सकल सुखदायक। देहि भगति संसृति सरि तरनी॥'* (७। ३५। २, ६) इस द्विरुक्तिसे जनाया कि सनकादि मुनियोंने जो कुछ माँगा था, वही मनुजी दर्शन होनेपर माँगना चाहते हैं, पर भगवान् अपनी इच्छासे उनकी बुद्धि बदलते हैं। सनकादिक ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और मनुजी ब्रह्माजीके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं। इस पुनरुक्तिसे दोनोंमें समानता दिखायी। (इसमें एक शङ्का उपस्थित होती है कि उस कल्पमें तो पाँच मन्वन्तरोंके बाद अवतार होनेपर सनकादिकने वर माँगा है और मनुजीकी यह अभिलाषा इस मन्वन्तरमें हुई है।)

सनकादिक तो स्वयं भगवान्‌के पास आये हैं तथापि उन्होंने 'सुरधेनु' प्रथम कहा है और भगवान् मनुजीके पास स्वयं आनेवाले हैं तथापि यहाँ 'सुरतरु' प्रथम है, अतः इससे कुछ भाव निकालना गलत है।

वि० त्रि० का मत है कि 'सुरतरु' के सम्बन्धसे *'सेवत सुलभ'* कहा। यथा—*'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच।.......'* और कामधेनुके सम्बन्धसे *'सकल सुखदायक'* कहा।

टिप्पणी—३ *'जौं अनाथहित हम पर नेहू। तौ.......'* इति। (क) *'अनाथहित'* का भाव कि भगवान् अनाथपर कृपा करते हैं, यथा—*'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥'* (५। ७) *'सुन्दर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो। सो एक राम.......।'* (७। १३०) *'नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो'* (वि० ७। ९) ☞(ख) पुनः, भाव कि अनाथके हित एकमात्र आप ही हैं, दूसरा नहीं। राजा और रानी दो हैं, इसीसे 'हम' बहुवचन पद दिया। इसी प्रकार पूर्व *'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥'* कहा और आगे भी *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'* तथा *'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥'* में बहुवचन पद दिये। जहाँ दोनोंका सम्मत एक है वहाँ बहुवचन कहा। इसी तरह जहाँ दोनोंका सम्मत एक नहीं है, जहाँ दोनों पृथक्-पृथक् वर माँगते हैं वहाँ एकवचन दिया गया है। यथा—*'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥'* *'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ।'* *'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी॥'* *'मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना।'* *'सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा।'* *'सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु मोहि कृपा करि देहु।'* इत्यादि। (श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि अपनेको अनाथ कहनेका भाव कि 'त्रिलोकमें हम किसीको अपना हितकर नहीं देखते, त्रिदेव भी हमारा अभीष्ट पूर्ण नहीं कर सकते और त्रिकाण्डसे भी हम अपना कल्याण नहीं समझते।' पुनः कणादकृत वैशेषिकवाले कालहीकी प्रेरणासे जगत्‌की उत्पत्ति आदि कहते हैं। हमको तीनों कालसे कदापि सुखकी वृद्धि नहीं है। पुनः, कोई जाग्रत्‌में अपनेको सुखी समझते हैं, कोई स्वप्नहीसे प्रीति करते हैं और कोई सुषुप्तिहीसे आनन्द मानते हैं। परंतु हमको तो इन तीनों अवस्थाओंमें कुछ भी हितकर नहीं जान पड़ता।)

टिप्पणी—४*'जो सरूप बस सिव मन माहीं।.......'* इति। ब्रह्मको नेत्रभर देखना चाहते हैं, ब्रह्मके शरीर नहीं है, इसीसे कहा था कि भक्तोंके लिये *'लीला तनु गहई।'* पर लीलातन तो चतुर्भुज शेषशायी, अष्टभुज, भूमापुरुष, चतुर्व्यूह, द्वादशव्यूह, सहस्रभुज विराट्‌पुरुष, मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह, कृष्ण इत्यादि अनेक हैं, तुम किस लीलातनका दर्शन चाहते हो? इसपर कहते हैं कि जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है, जिस स्वरूपके लिये मुनि यत्न करते हैं कि हमारे हृदयमें बसे—*'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक*

मुनि जेहि पावहीं।' (३। ३२) स्वरूपकी प्राप्तिमें शिवजी सिद्ध हैं। उनके मनमें मूर्ति बसती है। मुनि साधक हैं, वे मूर्त्ति अपने हृदयमें बसानेके लिये साधन करते हैं। जिन मुनियोंके साधन सिद्ध हो जाते हैं, उनके हृदयमें प्रभु बसते हैं, यथा—*'राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥'*

टिप्पणी—५*'जो भुसुंडि मन मानस हंसा।'''''''* इति। (क) श्रीशिवजी और भुशुण्डिजी दोनों प्रेमी हैं, दोनों ब्रह्मके स्वरूप और स्वभावके 'जनैया' (जाननेवाले) हैं, इसीसे दोनोंके मनमें स्वरूपका बसना लिखा, यथा—*'कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहि मगन मन भूले॥'* (१९६। ४-५) *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥'* (५। ४८) *'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥'* (७। १२४) (ख) यहाँतक शिव, मुनि और भुशुण्डि तीन नाम दिये। इन तीनोंका नाम कहकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों (से भगवान्‌की प्राप्ति) दिखाते हैं। शिवजी ज्ञानी हैं, मुनि कर्मकाण्डी हैं और भुशुण्डिजी उपासक हैं। तात्पर्य कि भगवान् ज्ञानी, कर्मी और उपासक तीनोंको प्राप्त होते हैं। (एक खर्रेमें पण्डितजी लिखते हैं कि 'भुसुंडि' के कहनेसे (गरुड़को)*'अघाइ कै रामरूपका बोध भया'*) (ग) *सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।'* इति सगुण और निर्गुण कहकर जिसकी स्तुति वेद करते हैं, यथा—*'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।'* (७। १३) श्रीरामजीके सगुण और निर्गुण दो रूप हैं। निर्गुण रूप प्रथम ही कह आये—*'अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥'* इत्यादि। सगुण स्वरूप आगे कहेंगे—*'नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम'* इत्यादि। (घ) वेद निर्गुण ब्रह्मका निरूपण करते हैं, यथा—*'नेति नेति कहि बेद निरूपा'* और सगुण ब्रह्मकी प्रशंसा करते हैं—*'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा'*। एकका निरूपण और दूसरेकी प्रशंसा करनेका भाव कि निर्गुण ब्रह्ममें वाणीका प्रवेश नहीं है—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इति। (श्रुति) सगुणमें वाणीका प्रवेश है, इसीसे प्रशंसा करते हैं। [यहाँ कहते हैं कि*'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।'* और उत्तरकाण्डमें वेद स्वयं कहते हैं कि*'ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।'* यह परस्पर भेद कैसा? रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि*'सगुन जस'* गानेमें भाव यह है कि यशका लाभ केवल सगुण ही रूपको है—निर्गुणको नहीं, क्योंकि वह तो क्रियाशून्य है, चेष्टारहित है। जिसकी निषेधकी हानि अथवा विधिके प्रचारकी चेष्टा ही न हो उसको यश कैसे हो सकता है?*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* (तु० प० ३। ४)]

नोट—४ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि वचनोंका भाव यह है कि 'आपका स्वरूप कोई जानता नहीं। वेद भी *'नेति नेति'* कहते हैं तब मैं उसे कैसे जानूँ? अतएव उस स्वरूपको इस प्रकार लक्षित करते हैं कि *'जो सरूप'''''''* इत्यादि। पर शिवजीके मनमें बालरूप बसता है, यथा—*'बंदौं बालरूप सोइ रामू।'* मुनियोंके ध्यानमें अवस्थाका नियम नहीं है। देखिये सनत्कुमारसंहितामें पहले **'पितुरङ्कगतं रामम्'** यह बालरूपका ध्यान है, फिर **'वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले'** यह किशोरावस्थाका ध्यान है। भुशुण्डिजी बालरूपके उपासक हैं। वेदोंके वर्णनमें अवस्थाका नियम नहीं है। वेदोंने अनन्तरूपोंका वर्णन किया है। इन वचनोंमें परात्पररूप और सब अवस्थाओंका सँभार आ गया।'

नोट—५ मनुजीका यह सिद्धान्त है कि 'शिवजी भगवान् हैं, रामभक्तिके आदि आचार्य हैं, ज्ञान-वैराग्य-वेदतत्त्व आदिके ज्ञाता हैं, यथा—*'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।'* (१११। ५) *'जोग ज्ञान बैराग्य निधि।'* (१०७) मुनि इन्द्रियविषय सुखको त्यागकर अनेक कष्ट उठाकर, उपाय करते हैं तो परात्पर रूपहीके लिये करते होंगे। भुशुण्डिजी ऐसे परमभक्त हैं कि जिनके आश्रमके आस-पास चार योजनतक माया नहीं व्यापती, वे भी परात्परकी ही उपासना करते होंगे। वेद भी परात्पर रूपकी ही अगुण-सगुण कहकर प्रशंसा करते हैं।' अतएव इन तीनोंके सिद्धान्तसे जो ब्रह्म हो वही परात्पर होगा।

नोट—६ मयंककार लिखते हैं कि 'शिवजीके मनमें किशोररूप और भुशुण्डिजीके मनमें बालस्वरूप

बसता है। दोनों एक बार देखना दुस्तर है। दम्पतिने विचारपूर्वक यह वर माँगा, जिसमें किशोररूपका तो तत्काल दर्शन हो (प्रथम *'जो सरूप बस सिव मन माहीं'* यह कहा इसीसे प्रथम शिवजीके ध्यानवाला स्वरूप प्रकट हुआ) और अवधमें बालरूपका आनन्द पावें अर्थात् पुत्र हो प्रकट हों। (*'भुसुंडि मन मानस हंसा'* अन्तमें कहा। इसीसे कालान्तरमें वही यज्ञादिरूपी यत्न करनेसे *'भुसुंडि मन मानस हंसा'* बालरूप होकर प्रकट होंगे।) 'मनुने तप करते समय किसीकी उपासना नहीं की, न किसीके नामको जपा। उनका यही अनुष्ठान था कि जो परतम सबसे परे हो वह मुझको दर्शन दे। तब शार्ङ्गधर भगवान् रामचन्द्रजी प्रकट हुए। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि ये ही सबसे परे और सबके सींव हैं'—(मा० म०)—*'बिधि हरि संभु नचावनिहारे।'*, *'हरिहरहिं हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई।'* (वि० १३५)

प० प० प्र०—शिवजी रघुवीररूपके उपासक हैं, यथा—*'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।'* *'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥'* कहनेपर विचार आ गया कि शिवजी तो बालरूपके उपासक नहीं हैं और बालरूप तो अधिक मोहक, मनोहर और सुखकर है, अतः फिर कहा कि *'जो भुसुंडि मन मानस हंसा'* क्योंकि ये बालरूपके उपासक हैं, जो प्रथम माँगा उसके अनुसार अवतार-समयमें भी प्रथम वही रूप कौसल्याजीको दिखाया *'जो सरूप बस सिव मन माहीं'* और फिर *'भए सिसुरूप खरारी।'* मयंककारने उचित ही लिखा है।

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन॥ ६॥
दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेमरस पागे॥ ७॥
भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥ ८॥
दो०—नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥ १४६॥

शब्दार्थ—दंपति=स्त्री-पुरुष। **पागे**=शीरा, किवाम वा चाश्नीमें लपेटे, डुबोये वा साने हुए, यथा—*'आखर अरथ मंजु मृदु मोदक प्रेम पाग पागिहैं।'* (विनय०) *भगतबछल* (भक्तवत्सल)—जैसे गऊ नवजात बछड़ेका प्यार करती है वैसे ही भक्तोंका प्यार करनेवाले, उनके दोषोंको स्वयं भोग लेनेवाले, उनपर दृष्टि न करनेवाले और सदा साथ रहनेवाले, यथा भगवद्गुणदर्पण—**'आश्रितदोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन। आश्रितागस्तिरस्कारबुद्धिर्वात्सल्यमित्यपि॥ सुस्निग्धहृदयत्वं यद्दोषरौक्ष्यातिगं निजे। जने स्यात्तद्धि वात्सल्यं भक्त प्राणस्य वै हरेः॥ ममतामोहसम्पर्को दृढीयांस्तनुजादिषु। यत्पिच्छलमनस्कत्वं विदुर्वात्सल्यमुत्तमाः॥ वत्सः स्नेहगुणस्थेयांस्तद्वता वत्सलो हरिः॥'**—(वै०)

अर्थ—हे प्रणतके दुःखको छुड़ानेवाले! हम वह रूप नेत्र भरकर देखें (ऐसी) कृपा कीजिये॥ ६॥ दम्पतिके कोमल, नम्र और प्रेमरसमें पागे हुए वचन प्रभुको परम प्रिय लगे॥ ७॥ भक्तवत्सल, दयासागर, विश्वमात्रमें व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट हो गये॥ ८॥ नील-कमल, नील-मणि और नीले मेघोंके समान श्याम (वर्ण) तनकी शोभा देखकर करोड़ों, अरबों कामदेव लज्जित हो जाते हैं॥ १४६॥

बाबा हरिदासजी—१ श्रीमनुजीने विचारा कि शिवजी और भुशुण्डिजी एवं मुनिजनको ब्रह्मका दर्शन ध्यानमें हुआ करता है, कहीं ऐसा न हो कि हमें भी ध्यानहीमें दर्शन देकर चल दें, हमने तो उनको पुत्र बनानेके लिये तप किया है, अतः कहते हैं कि *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'* ध्यानमें नहीं किंतु प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, अपने इन नेत्रोंसे और वह भी भरपूर। २—*'दंपति बचन परम प्रिय लागे।.......'* इति। 'दंपति' अर्थात् श्रीसीतारामको (उनके) वचन परम प्रिय लगे—(शीलावृत्ति) (हमने 'दंपति' से मनु-शतरूपाका अर्थ किया है।)

टिप्पणी—१ *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।'* भाव कि जो रूप शिवादि ध्यान रखकर मनमें देखते हैं

वही रूप हम प्रत्यक्ष नेत्र भरकर देखें। (ख) *'कृपा करहु प्रनतारति मोचन'* अर्थात् आप प्रणतकी आर्ति हरते हैं, हम प्रणत हैं, हमारी आर्ति हरण कीजिये। तात्पर्य कि आपके दर्शन बिना हम दोनों अत्यन्त आर्त हैं, हम इस योग्य नहीं हैं कि आप दर्शन दें, हमारे ऐसे सुकृत नहीं हैं कि दर्शन प्राप्त हो सकें, आपकी कृपाका ही भरोसा है। आप अपनी ओरसे कृपा करके हमको दर्शन दीजिये। (शिवादि समर्थ हैं। हममें उनका सामर्थ्य नहीं है। हमें एकमात्र आपकी कृपाका भरोसा है। कठोपनिषद्में भी कहा है कि जिसपर वह कृपा करता है उसीको प्राप्त होता है। यथा—**'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।'**(१। २। २२)

नोट—१ *'दंपति बचन'* इति। पूर्व केवल 'मनु'जीका बोलना लिखा था, यथा—***'बोले मनु करि दंडवत।'*** (१४६) और यहाँ स्त्री-पुरुष मनु और शतरूपा दोनोंका बोलना लिखते हैं; यह पूर्वापर विरोध कैसा? बाबा हरिदासजीने इस शङ्काकी निवृत्ति 'दंपति' से 'श्रीसीतारामजी' का ग्रहण करके की है। वे 'दंपति' से 'दंपति श्रीसीतारामजीको' यह अर्थ लेते हैं। हमने तथा प्राय: अन्य सभी टीकाकारोंने 'दंपति मनु-शतरूपाके' ऐसा अर्थ किया है। शङ्काका समाधान संत श्रीगुरुसहायलालजीने इस प्रकार किया है कि 'मनु' से राजा मनु और मनुकी स्त्री दोनों अर्थ निकलते हैं। व्याकरणसे 'मनु' शब्दका स्त्रीलिङ्गमें तीन तरहका रूप है। मनायी, मनावी और मन:। उसमें सूत्र लिखा है—**'मनो रौ वा।'**'''''''' (मा० त० वि०)। वि० त्रि० लिखते हैं कि **'मनो रौ वा'** इस सूत्रसे ङीप् विकल्पसे होता है। अत: शतरूपा भी मनु हैं। हिन्दी-शब्दसागरमें भी 'मनु' को पुँल्लिग और स्त्रीलिङ्ग दोनों लिखा है और उसका अर्थ, वैवस्वत 'मनु' और 'मनावी, मनुकी स्त्री' दिया है। इस तरह पूर्वके 'मनु' शब्दमें मनु और उनकी स्त्री शतरूपा दोनोंका ग्रहण होता है। अत: शङ्का नहीं रह जाती। पं० रामकुमारजी शंकाका समाधान इस तरह करते हैं कि पूर्व 'मनु' और यहाँ 'दम्पति' शब्द देकर जनाते हैं कि जो मनुजीने कहा वही महारानी शतरूपाजीने कहा, अर्थात् (अन्तमें) महारानीजीने कहा कि मैं भी यही चाहती हूँ। इस प्रकार ये वचन दोनोंके हुए, नहीं तो दोनोंका एक साथ बोलना नहीं बनता। (नोट—आगे इसी तरह श्रीशतरूपाजीने कहा भी है—***'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सो कृपाल मोहि अति प्रिय लागा।'*** (१५०। ४) वैसे ही यहाँ राजाके कह चुकनेपर अन्तमें कहा और पूर्वसे भी दोनोंका सम्मत यह था ही—***'पुनि हरि हेतु करन तप लागे। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।'*** त्रिपाठीजीका मत है कि दम्पतिका हृदय इतना अभिन्न है कि वे ही शब्द दोनों मुखोंसे एक साथ निकल रहे हैं।)

टिप्पणी—२ (क) ***'परम प्रिय लागे'*** इसका कारण आगे स्वयं कहते हैं ***'मृदुल बिनीत प्रेमरस पागे।'*** वचन कोमल हैं, सुननेमें कटु-कठोर नहीं हैं, विनम्र हैं। बड़ाई लिये हुए हैं (अर्थात् उनमें सेवक-स्वामि-भावका उल्लङ्घन नहीं हुआ, मर्यादाके अनुकूल और अहङ्कारशून्य हैं, और प्रेमरसमें पगे हुए हैं। भगवान्‌को प्रेम प्रिय है, यथा—*'रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा।'* (२। १३७) इसीसे ये वचन ***'परम प्रिय'*** लगे। (ख) ☞प्रथम कहा कि ***'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात'*** हृदयके उसी प्रेमसे वचन बोले, अतएव उन वचनोंको ***'प्रेमरस पागे'*** कहा। ☞भगवान्‌के वचन सुधा-समान हैं—***'श्रवन सुधासम बचन सुनि'*** और ***'मृतक जिआवन'*** हैं; इसीसे उन्हें सुनकर स्त्री-पुरुष दोनों जिये, नहीं तो मृत्यु हो जाती। (भगवान्‌के वचन सुनकर दोनों पुलकित और प्रफुल्लित हो गये वैसे ही) इनके वचन प्रेमरससे पागे हैं, इसीसे भगवान्‌को परम प्रिय लगे। [कोमल वचन 'प्रिय' होते हैं, उसपर भी ये वचन 'विनीत' हैं, इससे ***'अतिप्रिय'*** हुए और फिर प्रेम-रसमें पगे हैं अतएव ***'परम प्रिय'*** हैं। (वै०)]

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं *'जौ अनाथ हित हम पर नेहू'* 'प्रनतपाल' ***'कृपा करहु प्रनतारति मोचन'*** इत्यादि मृदुल हैं। ***'सेवक सुरतरु''''''''नायक'*** विनीत हैं और ***'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'*** प्रेमरसमें पगे हुए वचन हैं।' (प्रेमपगे तो सभी हैं क्योंकि ***'प्रेम न हृदय समात'*** पूर्व कह आये हैं। वह प्रेम-वचन, पुलक इत्यादि रूपसे बाहर निकल पड़ा है; अत: वचन क्या हैं मानो प्रेम ही हैं।)

टिप्पणी—३ ***'भगत बछल प्रभु कृपानिधाना।'''''''''*** इति। (क) राजाने कहा था कि आप सेवकके

कामधेनु हैं, कल्पवृक्ष हैं और प्रणतपाल हैं, इन्हीं वचनोंको चरितार्थ करनेके लिये यहाँ 'भक्तवत्सल' कहा ('सेवकसुरधेनु' भगवान् हैं तो भक्त 'वत्स' हुआ ही। स्वयं भक्तके पास आये, अतः ***'भगत बछल'*** विशेषण उपयुक्त है)। जो राजाने कहा था कि ***'करहु कृपा प्रनतारति मोचन'*** अर्थात् कृपा करके मुझ आर्त्तको दर्शन दीजिये; इस वचनको चरितार्थ करनेके लिये ***'कृपानिधान'*** कहा अर्थात् भगवान् कृपा करके प्रकट हुए। ☞भगवान्के प्रकट होनेका मुख्य कारण कृपा है, यथा—***'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी', 'सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद अग जग मोहई।'*** तथा यहाँ ***'भगत बछल.......'*** कहा। [मृदुल, विनीत और प्रेमरस-पागे—ये तीन विशेषण वचनके दिये,वैसे ही तीन विशेषण भगवान्के दिये गये—भगतबछल, प्रभु और कृपानिधान। भक्तवत्सल हैं, प्रेमरसपागे वचन प्रिय लगे। प्रभु हैं, विनीत वचनपर प्रसन्न हुए। कृपानिधान हैं, मृदु वचनपर कृपा की। (वि० त्रि०)] (ख)***'बिस्वबास प्रगटे भगवाना'।*** तात्पर्य कि वे कहीं अन्यत्रसे नहीं आये, उनका वास तो विश्वमात्रमें है, (वे वहींसे) उसी जगह जहाँ-के-तहाँ ही प्रकट हो गये, यथा—***'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥'*** (१८५। ६) (ग) ***'प्रगटे'*** का भाव कि सूक्ष्मरूपसे भगवान् सर्वत्र हैं, देख नहीं पड़ते, वहीं प्रकट हो गये।***'प्रगटे भगवाना'*** का भाव कि ऐश्वर्यमान् रूप प्रकट हुआ। पुनः दूसरा भाव कि भक्त और भगवान्का सम्बन्ध है, भक्तहेतु प्रकट हुए, इसीसे 'भगवान्' कहा। यथा—***'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'*** (७। ७२) (घ) प्रथम प्रेम कहा—***'दंपति बचन प्रेमरस पागे।'*** तत्पश्चात् प्रकट होना कहा, क्योंकि प्रेमसे भगवान् प्रकट होते हैं। यथा—***'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'*** (१८५। ५) उदाहरण लीजिये—***'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भय भीरा।'*** (३। १०) ***'जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानीं। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानीं॥ लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।'*** (२३२) इत्यादि। [☞यहाँ 'विश्वास' और 'भगवान्' पद देकर जनाया कि श्रीसीतारामजी ही 'वासुदेव' और 'परमप्रभु' हैं, जिनका मन्त्र जपते थे और जिनके दर्शनकी अभिलाषासे तप कर रहे थे, गुप्त थे सो प्रकट हो गये।]

टिप्पणी—४***'नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।'*** इति। (क) कमल-समान कोमल और सुगन्धित नीलमणि-समान चिक्कन और दीप्तिमान् और नीले मेघोंके समान गम्भीर श्याम शरीर है। एक उपमामें ये सब गुण नहीं मिले, इससे तीन उपमाएँ दीं। पुनः इन तीन उपमाओंके देनेका भाव कि संसारमें जल, थल और नभ—ये तीन स्थान हैं। यथा—***'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥'*** (१। ३। ४) इन तीनों स्थानोंकी एक-एक वस्तुकी उपमा दी। जलके कमलकी, पृथ्वीके मणिकी और आकाशके मेघकी। (ख) ***'नीरधर'*** शब्दसे सजल मेघ जनाये। ***'नील नीरधर स्याम'*** में नील 'नीरधर' का विशेषण है और श्याम भगवान्का विशेषण है। (ग)***'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम'*** इति। यथा—***'स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥'*** कामदेवका रंग श्याम है, इसीसे कामकी उपमा लिखी।

* कमल, मणि और नीरधर तीन उपमाओंके और भाव *

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ तीन उपमान दिये। इन तीनोंमें मिलकर १६ धर्म हैं। इनकी उपमा देकर तनके षोडश शोभामय गुण दर्शित किये हैं। कमलकी उपमा देकर छः गुण दर्शाये, मणिके आठ गुण और मेघके दो गुण। कमलके धर्म हैं 'सुन्दरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता और मकरन्द'। प्रभुका शरीर सर्वाङ्ग सुडौल, कोमल, सुकुमार, सुगन्धयुक्त, सहज ही मनोहर और असीम माधुर्यरसयुक्त। मणिके धर्म हैं 'उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरणरहित, शुद्ध, अपावन न होनेवाला तथा सुषमा, एकरस-दीप्ति, आबवाला'। वैसे ही प्रभु तमोगुणादि रहित हैं, देहमें मलिनता नहीं, निरंजन-निर्मल-एकरूप, तनमन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज, लावण्य इत्यादि धर्मयुक्त हैं। मेघ-गम्भीर श्याम, बिजलीयुक्त। प्रभुका गम्भीर श्याम' तन और तनपर पीतपट।

२—श्यामतनके भिन्न-भिन्न धर्मोंके भिन्न-भिन्न उपमान दिये गये। सब धर्म जो वक्ता दिखाना चाहते

थे वे किसी एक उपमानमें नहीं मिले; इससे वे बराबर उपमा देते गये। श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें अंगदजीके बिदाईके प्रसंगमें '*कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि*' ऐसा कहा है। वहाँ कुलिश और कुसुमकी उपमाएँ चित्तके लिये दी गयी हैं। कुलिश मणि है और कमल कुसुम है। इस प्रकार कमलवत् श्याम और कोमल इत्यादि गुणोंका ग्रहण होगा, यथा—'**नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्**'; मणिवत् श्याम और कठोर अर्थात् इससे पुष्ट और एकरस सहज प्रकाशमान गुण लेंगे। यथा—'*परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥*' कमल और मणिकी उपमा देनेपर सोचे कि ये सबको सुलभ नहीं, सबको इससे आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता और इन्हें सर्वसाधारणने देखा भी नहीं, सुना भर है, अतएव जलधरकी उपमा दी। यह उपमान ऐसा है जिसे सबने देखा है। सब धर्म यहाँ मिल गये। मेघवत् गम्भीर और चराचरमात्रको सुखदायक।

३—यहाँ मालोपमालंकार है। ☞स्मरण रहे कि 'गोस्वामीजीकी मालोपमाओंमें अन्य कवियोंकी अपेक्षा यह बड़ी भारी विशेषता है कि वे जिस विषयके वर्णनमें जहाँ जितनी आवश्यकता समझते हैं वहाँ उतनी उपमाएँ देते हैं। उपमाओंकी व्यर्थ भरमार करके अपना और पाठकका समय नष्ट नहीं करते।'

४—यदि कोई कहे कि मेघ तो अर्क यवासको जलाते हैं तो इसका उत्तर यह होगा कि अर्कयवासरूपी दुष्ट अपने कर्मोंसे नष्ट हो जाते हैं। मेघ या प्रभुका कुछ दोष नहीं, यथा—'*तुलसी दोष न जलद को जौं जल जरत जवास*'। पुन:, नीरधरसे श्रीरामजीकी सहृदयता तथा परोपकारपरायणता भी दिखायी है। मेघ जा-जाकर सबको जल देते हैं और आप कृपानीरधर हैं, भक्तोंके पास जा-जाकर कृपा करते हैं। यथा—'*कृपा बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी॥*' (लं०)

५—वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि—(क) कोमल सरसादि होनेसे कमल वात्सल्य भावका द्योतक है। राजत्व (ऐश्वर्यत्व) किंवा राजसमाजमें मणिकी उपमा उपयुक्त होती है।'*कृपा बारिधर राम खरारी*' के अनुसार मेघकी उपमा कृपाका द्योतक है। (ख) प्राय: सर्वत्र एक ही उपमा दी जाती है। यहाँ तीन उपमाएँ एक साथ देनेका भाव यह है कि एक तो भगवान्‌को देखते ही मनुजीके हृदयमें कोमल (वात्सल्य) भावका संचार हो गया, इसे जनानेके लिये '*नील सरोरुह स्याम*' कहा। दूसरे, मनु राजा थे और भगवान्‌के ऐश्वर्यको जानते थे, अत: कविने'*नील मनि स्याम*' कहा। और मनुजी कृपा चाहते थे। यथा—'*कृपा करहु प्रनतारति मोचन*' इसलिये '*नील नीरधर स्याम*' कहा।

६—पंजाबीजी कमलसे कोमलता, मणिसे प्रकाश और मेघसे उदारता और गम्भीरता गुण लेते हैं।

७—रा० प० का मत है कि सरोरुहकी चिकनाई और सुगन्ध, मणिकी चमक और घनकी श्यामता—ये गुण स्वरूपमें हैं। दर्पणकी उपमा न दी क्योंकि वह सुगन्धरहित है और रा० प्र० का मत है कि नीलकमल-समान चिक्कन और कोमल है, नीलमणिसम चमक है और नील मेघके समान सरस है। भाव कि मुखकी 'पानिय' (आब) विमल है और श्यामता तीनोंके समान है।—एक-पर-एक उपमा देते गये। जब तीसरी उपमा भी योग्य न देखी तब हार मानकर चुप हो रहे। अथवा, तीन उपमाएँ देकर इनको त्रिदेवका कारण जनाया।

८—काशीनरेश श्रीईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी लिखते हैं कि एक ही श्यामताको तीन प्रकारसे कहकर '*सत् चित् आनन्द*' भाव दरसाया।

९—वि० त्रि० लिखते हैं कि जलमें सर्वोत्तम नीलिमा नीलकमलकी, थलमें नीलमणिकी और नभमें नीरधरकी है। इन तीनों नीलिमाओंकी शोभा सलोने श्यामसुन्दरमें है।

नोट—३ '*लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम*' इति। श्याम-तनके लिये उपमा-पर-उपमा देते गये फिर भी समता न देखकर अन्तमें कहना पड़ा कि'*लाजहिं*.......'। ऐसा करके उपमेयका अनुपम होना दिखाया। परमोत्कृष्टता जनानेके लिये इतनी उपमाएँ दी गयीं। यहाँ किसीके मतसे तीसरा और किसीके मतसे पाँचवाँ प्रतीपालंकार है। '*कोटि कोटि सत*' असंख्य, संख्यारहितका वाचक है। भाव

यह है कि जैसा शरीरका रंग और शोभा है वह तो किसीसे कहते नहीं बनती; उपमा जो दी गयी वह किञ्चित् एक देशमें जानिये नहीं तो निरुपमकी उपमा कैसी? यथा—*'नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होत।'* (गी० १। १९। ३) *'कोटि कोटि सत'* कहनेका भाव कि जैसे एक दीपकसे अधिक प्रकाश दोमें और दोसे तीनमें अधिक प्रकाश होता है, वैसे ही यदि संख्यारहित कामदेव एकत्र हों तो भी उन सबोंकी समष्टि शोभा श्रीरामजीके श्यामतनकी शोभाके सामने तुच्छ हो जाती है, जैसे सूर्यके आगे दीपक। प्रभुके शरीरकी श्यामतामें जो दिव्य एकरस गुण हैं वे नीलकमल, नीलमणि और नीले मेघोंमें कहाँ? ☞ यहाँ समष्टि शोभा कहकर आगे अङ्ग-अङ्गकी शोभा पृथक्-पृथक् कहते हैं।

सरद मयंक बदन छबिसीवाँ। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ॥ १॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥ २॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती* जी की॥ ३॥
भृकुटि मनोजचाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥ ४॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा॥ ५॥

शब्दार्थ-**मयंक**=चन्द्रमा। **बदन**=मुख। **सीवाँ**=हद, मर्यादा, सीमा जिससे बढ़कर और नहीं। **कपोल**=गाल। **चिबुक**=ठुड्डी, ठोढ़ी। **ग्रीवा**=कण्ठ। **अधर**=ओष्ठ, होंठ, ओंठ। **रद**=दाँत। **नासा**=नासिका, नाक। **अरुन** (अरुण)=लाल। **बिधु**=चन्द्रमा। **कर**=किरण। **निकर**=समूह। **बिनिंदक**=निन्दा करनेवाला, अत्यन्त नीचा दिखानेवाला। **हास्य**=हँसी, मन्द मुसकान। **अंबुज**=कमल। **नव**=नवीन, ताजा खिला हुआ। **ललित**=सुन्दर, मनोहर, प्यारी, स्नेहभरी।† **भावती**=भानेवाली, अच्छी लगनेवाली। **भृकुटि**=भ्रू, भौंह। **पटल**=पटली, तह, आवरण, तट। पुनः, **पटल**=समूह—*'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥', 'मोह महाघन पटल प्रभंजन'।* भ्राजना=दीप्तिमान् होना। **कुटिल**=घूमे हुए, घुँघराले, छल्लेदार। **मकर**=मीन, मछली।=मगर। 'मकराकृत कुण्डल गोलाकार होता है, जैसे मछलीका मुँह और पूँछ मिलानेसे आकार बनेगा।'

अर्थ—उनका मुख शरदपूर्नोंके चन्द्रमाके समान छबिकी सीमा है। गाल और ठोढ़ी सुन्दर हैं, गला शङ्खके समान है॥ १॥ ओंठ लाल, दाँत और नाक सुन्दर हैं। हँसी चन्द्रमाकी किरणसमूहको अत्यन्त नीचा दिखानेवाली है॥ २॥ नेत्रोंकी छबि नये खिले हुए कमलकी छबिसे अधिक सुन्दर है और चितवन स्नेहसे भरी हुई मनको भानेवाली है॥ ३॥ भौंहें कामदेवके धनुषकी शोभाको हरनेवाली हैं। ललाट-पटलपर तिलक (समूह बिजलीका) प्रकाश कर रहा है॥ ४॥ कानोंमें मकराकृत कुण्डल और सिरपर मुकुट सुशोभित है। टेढ़े घुँघराले बाल (क्या हैं) मानो भ्रमरोंके समाज हैं॥ ५॥

नोट—१ यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग भी उपमा और प्रतीप अलङ्कारसे अलंकृत है।

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि दोहा १४६ में पूर्व सोलह गुण कहे। उनमें कमल, मणि और मेघ ये तीन उपमान कह चुके। वहाँ जो तेरह धर्म गुप्त कहे वही तेरह उपमान आगे कहते हैं। यथा—मुख-शशि, ग्रीव-शङ्ख, हास्य-चन्द्रकिरण, नेत्र-कमल, भृकुटी-कामचाप, कुण्डल-मकर, केश-भ्रमर-समाज, भुजदण्ड-करिकर, कंधर-केहरि, पीतपट-तड़ित, उदररेखालहर, नाभि-यमुनभँवर और पद-राजीव। और ऊपर दोहेमें जो कहा है कि शरीरकी शोभाको देखकर असंख्यों कामदेव लज्जित हो जाते हैं, उस वाक्यके प्रमाणहेतु यहाँ कपोल, चिबुक, अधर, दाँत, नासिका, चितवन, तिलक, ललाट, मुकुट, शिर, श्रीवत्स, उर, वनमाला, पदिक, आभूषण, जनेऊ, बाहुभूषण, कटि, निषंग, कर, धनुष और बाण इन बाईस अङ्गोंकी शोभाको उपमा नहीं दी। (प्रथम संस्करणमें हमने इसको इस प्रकार लिखा था—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ *'सरद मयंक*

* —भावती १६६१। † 'शृङ्गाररसमें एक कायिक हाव या अङ्गचेष्टा जिसमें सुकुमारता (नजाकत) के साथ भौंह, आँख, हाथ, पैर अङ्ग हिलाये जाते हैं'।—(श० सा०)

***बदन*……' से लेकर'*पद राजीव बरनि नहि जाहीं॥*' (१४८। १) तक १३ उपमान देकर उनके १३ धर्म गुप्त दिखाये हैं। २२ अङ्गोंकी शोभाकी उपमा नहीं दी गयी? उनके विषयमें 'चारु', 'ललित', 'भावती जीकी' इत्यादि विशेषण देकर उनको योंही रहने दिया। इसका कारण यह है कि वे अनुपम हैं, उनकी उपमा नहीं मिली। जो ऊपर दोहेमें कह आये हैं कि '*लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम*' उसीका निर्वाह इन चौपाइयोंमें खूब ही हुआ है'। जिस अङ्गकी किञ्चित् भी उपमा पायी उसे देते गये।)

नोट—३ पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'सींव' समुद्रको कहते हैं, यहाँ 'सींवाँ' से ही चले (अर्थात् 'सीवाँ' से रूपवर्णन-प्रसङ्गको उठाया) और सीवाँहीपर समाप्त किया है,'*छबि समुद्र हरिरूप निहारी*' अन्तमें और'***बदन छबिसीवाँ***' आदिमें कहा है। यहाँ वाचक लुप्तोपमा है।

टिप्पणी—१'***सरद मयंक बदन छबिसीवाँ॥***………' इति॥ (क) ☞शरीरके श्यामवर्णकी शोभा कहकर अब अङ्गोंकी शोभा कहते हैं। (ख) मुख छबिकी सीमा है अर्थात् जैसी शोभा मुखकी है वैसी कहीं नहीं है। 'सींव' कहकर सूचित किया कि शरच्चन्द्रसे मुखकी छबि अधिक है, यथा—'***सरदचंद्र निंदक मुख नीके॥***' (२४३। २) पुनः, भाव कि 'शरद्‌मयंक' से निर्मल चन्द्र कहा, छबिसींवसे पूर्णचन्द्र कहा; क्योंकि पूर्णिमाका पूर्णचन्द्र छबिकी सीमा होता है। रामचन्द्रजीका मुख छबिकी सीमा है; अतः उसकी उपमा छबिसींव चन्द्रकी देते हैं, यथा—'*भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥*' (२०७। ६) '***सरद सर्बरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन॥***' (२। ११६) इत्यादि। भाव कि शरद्‌मयंक छबिकी सीमा है, उसके समान बदन छबिकी सीमा है। (शरद्‌मयंकको मुखसे उपमित करनेपर भी कविको सन्तोष न हुआ तब उसे छबिकी परमावधि बतलाया। वि० त्रि०) (ग)'***दर ग्रीवा***' इति। कण्ठ शङ्खसमान है। शङ्खमें तीन रेखाएँ होती हैं, उपमा देकर कण्ठको त्रिरेखायुक्त (एवं चढ़ाव-उतारसहित) सूचित किया। यथा—'***रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥***' (२४३। ८) इसमें 'वाचक लुप्तोपमा' हैं।

श्रीबैजनाथजी—छबिके अङ्ग हैं—द्युति, लावण्य, रूप, सौन्दर्य, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता। मुखको शरच्चन्द्र कहा है। चन्द्रमामें भी ये सब अङ्ग हैं। द्युति अर्थात् झलक दोनोंमें है। मुखमें लावण्य जैसे कि मोतीका पानी और चन्द्रमें श्वेतता। मुखमें रूप (बिना भूषणके भूषितवत् जान पड़ना) और चन्द्रमें प्रकाश। मुखमें सौन्दर्य (सर्वाङ्ग सुठौर बना होना) वैसे ही चन्द्र वर्तुल बना। मुखमें रमणीयता (देखनेपर अनदेखा-सा लगना) कान्ति (स्वर्णकी-सी ज्योति), माधुरी (देखनेसे नेत्रका तृप्त न होना), मृदुता, सुकुमारता हैं, ये चन्द्रमामें क्रमशः किरण, कान्ति, अभिनव-शीतलता, निर्मलता और सुकुमारता (ऐसी कि रविकी किरणोंको नहीं सह सकता) हैं।

टिप्पणी—२ (क)'***अधर अरुन रद सुंदर नासा***……' इति। यथा—'***अधर अरुनतर दसन पाँति बर मधुर मनोहर हासा। मनहु सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित कृत बासा॥***' इति। (गीतावली ७। १२) (ख)'***बिधुकरनिकर बिनिंदक हासा***………' इति। हास चन्द्रकिरण-समूहका निन्दक है। इससे दाँतोंकी चमक दिखायी। यथा—'***कुलिस कुंद कुड़मल दामिनिदुति दसनन्हि देखि लजाई।***' (वि० ६०) '***कुलिसन्ह तड़ित सहित किय बासा।***' (उपर्युक्त) ☞मुख शरच्चन्द्रको लज्जित करता है और 'हास' चन्द्रकिरणको। चन्द्रमासे किरण है, मुखसे हास है। (ग) यहाँ 'हास' वर्णन करनेमें भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी राजासे हँसकर मिले। यह प्रभुका स्वभाव है। वे सबसे हँसकर मिलते हैं; यथा—'***रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥***' (७। १९) [इससे 'निजानन्द' और हृदयका अनुग्रह सूचित होता है, यथा—'***हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचित किरन मनोहर हासा॥***' (१९८। ७) अर्थात् यह आनन्दपूर्ण हास भक्तोंपर अनुग्रह दर्शित करनेके लिये होता है। इससे भक्तोंके हृदयकी तपनको मिटाते हैं। यथा—'***जियकी जरनि हरत हँसि हेरत॥***' (२। २३९) (प्र० सं०)]

टिप्पणी—३'***नव अंबुज अंबक छबि नीकी।***………' इति। (क) नवीन कमलसे भी नेत्रोंकी छबि '***नीकी***' है और सुन्दर चितवन'***जीकी भावती***' है। भाव कि नेत्रोंकी उपमा कमलकी दी पर चितवनकी कोई

उपमा है ही नहीं, तब उपमा कहाँसे दें? चितवन जीको भावती है अर्थात् जीके भीतर ही रह गयी, बाहर न प्रकट करते बना, यथा—*'चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥'* (२४३। ३) पुनः, *'भावती जीकी'* का दूसरा भाव कि जब श्रीरामजी हँसकर चितवते हैं तब उनकी चितवन जीकी जलन (हृदयके ताप) को हर लेती है, यथा—*'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।'* (२। २३९। ८) इसी भावसे *'भावती जीकी'* कहा। यही भाव दिखानेके लिये यहाँ 'हास, नेत्र और चितवन' तीनोंको एक साथ (तीन चरणोंमें एकके बाद एकको) वर्णन किया [भा० ३। १५। ३९ में यही भाव यों वर्णन किया गया है। '**कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।**' अर्थात् भगवान् अपनी स्नेहमयी दृष्टिसे सबके हृदयको सुखी कर रहे हैं। इसी बातको (गीतावली ७। २१) में *'चितवनि भगत कृपाल'* भी कहा है। नेत्रको कमलकी उपमा देकर बड़े-बड़े (कर्णान्त दीर्घ) और लाल डोरे पड़े हुए सूचित किया। यथा—*'अरुन कंज दल बिसाल लोचन'* (गी० ७। ७) पुनः, *'भावती जीकी'* से जनाया कि हृदयको आह्लादित करनेवाली है, जिसकी ओर देखते हैं उसे अपना लेते हैं।] (ख) *'भृकुटि मनोज चाप छबिहारी।'''''''''* इति। (क) भौहोंकी शोभा टेढ़ेपनकी है, इसीसे धनुषकी उपमा दी। धनुष सुन्दर नहीं होता, इसीसे कामके धनुषकी उपमा दी। कामके धनुषसे ये सुन्दर हैं, अतएव *'मनोज चाप छबिहारी'* कहा। (कामका धनुष इतना सुन्दर है कि उसका नाम उन्मादन है। उन्माद उत्पन्न कर देता है।) इस भौंहके सामने उन्मादन कुछ भी नहीं है। (वि० त्रि०)

नोट—४ *'तिलक ललाट पटल दुतिकारी'* इति।—'पटल' शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थोंके कारण इस चरणके कई अर्थ हो सकते हैं।—(१) 'ललाट-पटल'=मस्तकका तल (सतह)=ललाट-मण्डल। '**कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभम्**' से भी 'पटल' का यही अर्थ सिद्ध होता है। 'दुति' (द्युति) का अर्थ दीप्ति, कान्ति, प्रकाश, चमक है। इस प्रकार इस चरणका अर्थ यह होगा कि 'ललाटकी तहपर तिलक प्रकाशमान है। 'दुतिकारी' चमकनेवाला, प्रकाश करनेवाला।

(२) 'पटल' के कई अर्थ हैं—कपाट, आवरण, छत, पटली; परत, पटरा, समूह। पं० रामकुमारजी और अनेक टीकाकारोंने 'समूह' अर्थ लेकर इस चरणका अर्थ यों किया है।—'मस्तकपर तिलक-समूह प्रकाश कर रहा है', वा, 'समूह' ललाटपर तिलक प्रकाश कर रहा है।'

(३) बैजनाथजी 'पटल' का अर्थ 'छा रहा है'—ऐसा करते हैं '**पटलं छदिः**' (अमर० २। २। १४) '**द्वे छादनस्य**' इति। (अमरविवेक) अर्थात् तिलकका प्रकाश माथेपर छा रहा है।

(४) विनायकी टीकाकारने *'पटल दुतिकारी'* का अर्थ 'बादलमें बिजलीके समान·····' किया है। हमको कोशमें पटलका अर्थ 'मेघ' नहीं मिला।

(५) श्यामवर्ण ललाटपर केशरका पीला-पीला तिलक है, इसीसे बिजलीकी-सी छटा दिखा रहा है। ऊर्द्ध्वपुण्ड्ररेखाएँ ऐसी शोभा दे रही हैं मानो *'अल्प तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई'* (वि० ६२) अथवा—*'भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुमरेखु। भ्रमर द्वै रबिकिरनि ल्याये करन जनु उनमेखु'* ॥ (गी० उ० ९)

(६) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'कामके धनुषकी छबिसे मोहन और वशीकरण आदि होते हैं, पर वे एकरस नहीं रहते, पुनः, प्रवृत्तमार्ग है; और भृकुटिकी छबिमें मोहन और वशीकरण अचल एकरस निवृत्त मार्ग है। अथवा, भावकी भृकुटिको देखकर काम धनुष भी फिर मोहन आदि नहीं कर सकता, यथा—*'जे राखे रघुबीर सो उबरा तेहि काल महँ।'*

टिप्पणी—४ (क) तिलक-समूह ललाटमें प्रकाश कर रहा है, यथा—*'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं'।* ☞भृकुटीको चाप कहकर तब तिलक वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि तिलक बाणके समान है, यथा—*'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजे। मनहुँ मदन तम तकि मर्कत धनु जुगल कनक सर साजे॥'* इति। (गीतावली ७। १२) (ग) पुनः, तिलककी उपमा बिजलीकी दी गयी

है, इसीसे *'दुतिकारी'* कहा, यथा—*'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहउँ समुझाई। अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई॥'* इति। (विनय० पद ६२)

टिप्पणी—५ *'कुंडल मकरमुकुट सिर भ्राजा।'*······' इति। (क) *'भ्राजा'* से सूचित हुआ कि मुकुटमें अनेक प्रकारकी मणियाँ लगी हुई हैं, यथा—*'कुंचित कच कंचन किरीट सिर जटित जोति मय बहु बिधि मनिगन'* (गी० ७। १६) *'सिरसि हेम हीरक मानिकमय मुकुट प्रभा सब भुवन प्रकासति।* इति। (गीतावली ७। १७) ☞यहाँतक मुखका वर्णन है; इसका प्रमाण गीतावली—*'प्रातकाल रघुबीर बदन छबि*······' (७। १२) है। (ख) *'कुटिल केस जनु मधुप समाजा'* अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो बहुत-से भौंरे सिमिटकर एक जगह आ बैठे हैं, समाज एकत्र होनेसे ही जुल्फोंकी उपमा हुई, नहीं तो एक-दो भ्रमर जुल्फकी उपमा नहीं हो सकते और बहुतेरे भ्रमरोंके एकत्र हो समाज बने बिना जुल्फका सादृश्य नहीं होता। जब सब अलग-अलग उड़ते रहे तब श्यामता सघन न हुई और जुल्फोंकी श्यामता सघन है, अतएव मधुपसमाजकी उत्प्रेक्षा की गयी। भ्रमर चिकने और श्याम होते हैं, वैसे ही केश सचिक्कन और श्याम हैं, यथा—*'सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल*······*।'* (गी० ७। ५) *'कुंचित कच रुचिर परम, सोभा नहिं थोरी। मनहुँ चंचरीक-पुंज कंजबृंद प्रीति लागि गुंजत कल गान तान दिनमनि रिझयो री॥'* (गी० ७। ७), *'चिक्कन कच कुंचित*······।'(१९९। १०) इसीसे केशकी उपमा भ्रमरकी दी।

नोट—५ शोभाका वर्णन मुखसे उठाया, क्योंकि मनुजी वात्सल्यभावके रसिक हैं। पिता-माताकी दृष्टि पुत्रके मुखहीपर रहती है। वि० त्रि० लिखते हैं कि सरकारके रूप देखनेकी उत्कट अभिलाषा है, अतः मुखपर ही प्रथम दृष्टि पड़ी, अतः कवि भी पहिले मुखका ही वर्णन करते हैं। शोभाका निर्णय मुखसे ही होता है। अतएव यहाँतक केवल मुखकी शोभा कही।

उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥ ६॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥ ७॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥ ८॥
दो०—तड़ित बिनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि॥ १४७॥

शब्दार्थ—**पदिक**=(नवरत्नजटित) चौकी (विशेष नीचे नोटमें देखिये)। **जाल**=समूह। **केहरि**=सिंह। **कंधर** (सं०)=गरदन।=कंधा। (वै०, रा० प्र०) **करिकर**=हाथीकी शुण्ड (सूँड़)। **निषङ्ग**=तरकश। **कोदण्ड**=शार्ङ्ग धनुष। **तड़ित**=बिजली। **बिनिंदक**=विशेष नीचा दिखानेवाला; मात करनेवाला। **पीतपट**=पीताम्बर, रेशमी पीला वस्त्र। **उदर**=पेट। **रेख**=लकीरें।

अर्थ—हृदयपर श्रीवत्सचिह्न, सुन्दर वनमाला, नवरत्नजटित। (चौकीयुक्त) हार और मणियोंसे युक्त आभूषण (पहिने) हैं॥ ६॥ सिंहकी-सी (मांसल) गरदन है। सुन्दर (देदीप्यमान्, चमकता हुआ पीत) जनेऊ है और भुजाओंके आभूषण भी सुन्दर हैं॥ ७॥ हाथीके सूँड़के समान सुन्दर भुजदण्ड हैं। कमरमें तरकश और हाथोंमें धनुषबाण हैं॥ ८॥ पीताम्बर बिजलीको भी अत्यन्त नीचा दिखानेवाला है, पेटपर सुन्दर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं। नाभि मनको हर लेनेवाली है मानो यमुनाजीके भँवरोंकी छबिको छीने लेती है॥ १४७॥

*** 'उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला' ***

कोई-कोई श्रीवत्स और भृगुलता दोनोंको पर्याय शब्द कहते हैं और कोई-कोई दोनोंको भिन्न-भिन्न दो चिह्नोंके नाम बताते हैं। श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि यह श्रीजानकीजीका दूसरा स्वरूप है। श्रीरामचन्द्रजी सदा भक्ति आदिका दान किया करते हैं। इस कारण श्रीजानकीजी श्रीवत्सरूपसे सदैव दक्षिणाङ्गमें सुशोभित रहती हैं। श्रीवत्स=लाञ्छन। छातीपर पीतरोमावलीका गुच्छा दक्षिणावर्त्त—'**श्रीवत्सलाञ्छनमुदारम्**'। संत

श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि 'वैकुण्ठाधीशके हृदयपर भृगुचरण-प्रहार (भृगुलता) मात्रका चिह्न है और श्रीसाकेतविहारी (श्रीराम) जीके हृदयपर दक्षिण ओर श्रीवत्सचिह्न है अर्थात् पीतरोमावर्त है। काञ्चननिभा श्रीकिशोरीजी मानो हृदयहीमें निवासकर यह सूचित कर रही हैं कि सम्यक् चरित्र मेरा ही है, जैसा 'रामहृदय' में श्रीकिशोरीजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है। अथवा वृन्दावनमें तप करनेसे लक्ष्मीजीको हृदयमें इस रूपसे स्थान मिला। वा, ब्राह्मणोंका महान् अद्भुत महत्त्व सूचित करनेके लिये श्रीसाकेतविहारीजीने भी भृगुलताका चिह्न अङ्गीकार किया। अथवा, कार्यकी वस्तु कारणमें भी प्राप्त होती है, जैसे श्राद्धकर्मकी वस्तु पिता-माता इत्यादिको प्राप्त होती है।' (मा० त० वि०)

पं० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'श्रीवत्स विष्णुभगवान्‌का नाम है, भृगुलता नहीं। भृगुलताको श्रीवत्सलाञ्छन कहते हैं'। घनश्याम त्रिवेदीजीकी पूर्व पक्षावली मानसशंकाके इस प्रश्नका कि 'विप्रपद चिह्न क्यों न लिखा?' उत्तर पं० शिवलाल पाठकजी यह देते हैं कि उससे मनुजीको सन्देह हो जाता कि ये परात्पर ब्रह्म नहीं हैं। रामचन्द्रजी क्षीरशायी भगवान्‌से परे हैं, उनके हृदयपर भृगुलता नहीं है; नैमित्तिक लीलास्वरूपमें गुप्तरूपसे प्रकट होनेके कारण, आवश्यकता पड़नेपर उसे भी धारण कर लिया करते हैं।—(स्नेहलताजी, मा० म०)

श्रीरसरंगमणिजी श्रीरामस्तवराज 'भावप्रकाशिका टीका' में श्रीरामस्तवराजके '**श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्ताहारोपशोभितम्।**' (१४) के 'श्रीवत्स' पर लिखते हैं कि 'छातीपर बायें ओर श्वेत रोमावलियोंकी भ्रमरी-समान महासौभाग्यभूत महापुरुष-लक्षण 'श्रीवत्स' नामका है। यह श्रीजानकीजीका प्रिय चिह्न है जो शोभित है। कहीं-कहीं श्रीवत्सको पीत रंगका भी कहा है।' (प्र० स्वामी लिखते हैं कि श्रीरामस्तवराजकी टीकामें जो लिखा है वही उचित है। अमरव्याख्यासुधामें '**श्रीयुक्तो वत्सः श्रीवत्सो महत्त्वलक्षणं श्वेतरोमावर्तविशेषः।**' ऐसी व्याख्या है। भृगुपदचिह्न अर्थ लेना उचित नहीं है।)

श्रीहरिदासाचार्यकृत भाष्य, श्लोक १५ में श्रीसीताराममुद्रणालय (श्रीअयोध्याजीकी छपी हुई सं० १९८६) में आचार्यजी लिखते हैं—'**महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्तिपीतरोमात्मकचिह्नविशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते। अत्र श्रीवत्सस्य तत्रापि कौस्तुभस्य नित्यविभूषणस्य धारणत्वोक्तेः।**' अर्थात् महापुरुषत्वको सूचित करनेवाला यह जो पीतरोमावर्तरूपी चिह्नविशेष वक्षःस्थलमें स्थित है वह 'श्रीवत्स' नामसे कहा जाता है। यहाँ जैसे श्रीवत्स और कौस्तुभका धारण करना कहा गया है, वैसे ही परात्पर श्रीरामजीके नित्य विभूषणोंमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया। इससे यह सिद्ध है कि वे ही परमात्मा यहाँ अवतीर्ण हुए हैं।

पं० रामकुमारजी भी लिखते हैं कि उरमें श्रीजानकीजीका निवास है। 'श्री' श्रीजानकीजीका नाम है। यथा—'*तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी।*' (३। ११। १८) '*श्रीसहित दिनकरबंसभूषन काम बहु छबि सोहई।*' (७। १२) '*जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्रीसेवा बिधि जानइ॥*' (७। २४) इत्यादि। विष्णुके उरमें श्रीवत्स है (वहाँ वह श्रीलक्ष्मीजीका चिह्न है। लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें विराजती हैं), वे विष्णु श्रीरामजीके अंशसे उत्पन्न हैं। श्रीरामजीकी शक्ति श्रीसीताजी हैं। ये श्रीसीतासहित प्रकट हुए हैं। इसीसे यहाँ 'श्री' शब्दका अर्थ 'सीता' है।

नोट—१ '**वनमाला**'=तुलसी, कुन्द, मन्दार, परजाता (पारिजात) और कमल इन पाँच पुष्पोंकी बनी हुई वनमाला जो गलेसे लेकर चरणोंतक लम्बी होती है। गीतावलीमें तुलसीके फूलोंसे रचित वनमाल कहा गया है, यथा—'*सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई।*' (गी० ७। ३) श्रीरामस्तवराजमें तुलसी, कुन्द और मन्दार (देववृक्षविशेष) के पुष्पोंकी वनमालाका भी उल्लेख है। यथा—'**तुलसीकुन्दमन्दारपुष्पमाल्यैरलङ्कृतम्।**'(१६) गीतावलीमें '*तुलसिका* और *प्रसून*' और श्रीरामस्तवराजमें 'मन्दार आदि पुष्प' इस प्रकार अन्वय कर लेनेसे बैजयन्तीमाला यहाँ भी हो जाती है। अमरव्याख्यासुधामें '**आपादपद्मं या माला वनमालेति सा मता**' इतना ही है अर्थात् चरणकमलोंतक लम्बी माला 'वनमाला' कहलाती है। उसमें पुष्पविशेषके नाम नहीं हैं।

नोट—२ *'पदिक हार भूषन मनिजाला'* इति। *'पदिक'* के कई अर्थ हैं। (१) *'पदिक'* (पदक)=रत्न, हीरा, जवाहर, कौस्तुभ। *पदिक हार*=रत्नोंका हार। यथा—**'वक्षःस्थले कौस्तुभम्'**। (२) *'पदिक'*=चौकी; धुकधुकी; 'नवरत्नजटित स्वर्णका चौकोर आभूषण जो हारके बीचमें वक्षःस्थलपर रहता है। गीतावलीमें पदिकका उल्लेख बहुत जगह आया है। यथा—*'उरसि राजत पदिक ज्योति रचना अधिक, माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी।'* (गी० ७। ५) *'रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हारु।'* (गी० ७। ८) *'भृगु पद चिह्न पदिक उर सोभित मुकुतमाल''''''''।'* (गी० ७। १६) *'उर मुकुतामनिमाल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति॥ हृदय पदिक''''''''।'* (७। १७) *'उर मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई। जनु उड़गन मंडल बारिद पर नव ग्रह रची अथाई।'*, *'पटुली पदिक रतिहृदय जनु कलधौत कोमल माल।'* (गी० ७। १८) *'पहुँची करनि पदिक हरिनख उर''''''''।'* (गी० १। ३१) इत्यादि। इन उद्धरणोंसे पदिक और हार दो अलग-अलग भूषण भी जान पड़ते हैं। अथवा, मणि-मुक्ता-हारमें ही नवरत्नजटित पदिक है। दोनों प्रकार हो सकते हैं।

पं० महावीरप्रसाद मालवीयजीका मत है कि 'रत्नजटित चौकीयुक्त घुटनेतक लटकनेवाला स्वर्णका हार 'पदिक'हार कहलाता है।

पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि मणियोंके हार और मणिजटित आभूषणोंका समूह तथा नव रत्नयुक्त पदिक पहने हैं।

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'मणियों और छोटे मोतियोंका पाँच लरोंका हार पदिकके नीचे शोभित है। फिर भूषणों और मणियोंका जाल चार अंगुल चौड़ा उरपर विराजमान है। जो मुनियोंके हृदयको अपनेमें फाँस लेता है।'

टिप्पणी—१ (क)*'केहरि कंधर'* इति। सिंहकी-सी ग्रीवा है। **कन्धर**=ग्रीव। **'कं मस्तकं धरतीति कन्धरः'**। मस्तकको जो धारण करे वह कन्धर कहलाता है। ग्रीवामस्तकको धारण किये है। [परन्तु ग्रीवको ऊपर कह आये हैं, यथा—*'चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ ।'* और कन्धेकी उपमा सिंहकी दी जाया करती ही है।—यथा—*'कंध बालकेहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ॥'* (७। ७७। २) *'केहरि कंध काम करि कर बर बिपुल बाहु बल भारी।'* (गी० १। ५४) इत्यादि कंधे उन्नत, विशाल और मांसल होनेमें सिंहके कन्धेकी उपमा दी जाती है। इससे *'कन्धर'* का अर्थ लोगोंने कन्धा किया है। ☞शब्दसागरमें 'कन्धर' का अर्थ 'गर्दन' दिया है और 'ग्रीवा' का अर्थ 'सिर और धड़को जोड़नेवाला अङ्ग;' 'गर्दन' दिया है। दोनों शब्द संस्कृतभाषाके हैं। गोस्वामीजीने यहाँ 'ग्रीवा' को शङ्खकी उपमा दी है। इससे मानसके उपर्युक्त 'ग्रीवा' का अर्थ 'कण्ठ वा गला' ही उपयुक्त होगा। गोस्वामीजीने 'ग्रीव' का अर्थ 'कण्ठ' किया भी है। जैसे—*'पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली।'* में **सुकंठ**=सुग्रीव। *'कंधर'* शब्दका अर्थ 'गर्दन' अर्थात् कण्ठके पीछेका भाग (जो मांसल और पुष्ट होता है) ले सकते हैं। अमरकोषके अमरविवेक टीकामें इसका हमें प्रमाण भी मिलता है। यथा—'**कण्ठः गलः द्वे ग्रीवाग्रभागस्य। ग्रीवा शिरोधिः कंधरा त्रीणि मान इति ख्यातस्य।**' (२। ६। ८८) इससे ज्ञात होता है कि ग्रीव समूचे (आगे-पीछे दोनों) भागोंका भी नाम है और अग्रभाग तथा पृष्ठभागका अलग-अलग भी ग्रीवा नाम है। ग्रीवा=कण्ठ, गला। ग्रीवा=शिरोधि, कंधरा, मान (गर्दन)। बैजनाथजी आदि कुछ टीकाकारोंने 'कंधा' अर्थ किया है। प्र० सं० में 'कंधा' अर्थ दिया गया था। 'कंधर' को शुद्ध संस्कृतभाषाका शब्द जानकर इस बार अर्थ ठीक कर दिया है]। (ख)*'चारु जनेऊ'* अर्थात् सुन्दर चमकता हुआ पीत जनेऊ है। यथा—*'पीत जज्ञ उपवीत सुहाए।'* (२४४। २) *'पीत जनेउ महाछबि देई।'* (३२७। ५)''''''''''*'दलन दामिनि दुति यज्ञोपवीत लसत अति पावन।'* (गी० ७। १६) 'चारु' से बिजलीवत् प्रकाशमान जनाया। (ग)*'सुंदर तेऊ'* इति। *'तेऊ'* बहुवचन पद देकर जनाया कि बाहुओंमें बहुत आभूषण हैं। यथा—*'भुज बिसाल भूषनजुत भूरी।'* (१९९। ५) यहाँ बाहुके आभूषणकी शोभा कही, आगे बाहुकी शोभा कहते हैं।

टिप्पणी—२ (क) '*करि कर सरिस सुभग भुजदंडा।*' इति।—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। हाथीकी सूँड़के समान कहकर बाहुका आकार और बल वर्णन किया, यथा—'*काम कलभ कर भुजबलसींवाँ।*' (२३३। ७) (पुरुषोंकी भुजाएँ कड़ी और बलिष्ठ होती हैं। चढ़ाव-उतारकी सुडौल और लम्बी हैं। हाथीके शुण्डमें और सब अङ्गोंसे अधिक बल होता है। इन सब बातोंके लिये '*करि कर*' की उपमा दी। स्त्रियोंकी भुजाएँ कोमल, नर्म और नाजुक होती हैं, इससे स्त्रीकी भुजाको वल्ली कहते हैं, यथा—'*चालति न भुज बल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी।*' (३२७) और पुरुषकी भुजाको दण्ड कहते हैं। (ख) '*कटि निषंग कर सर कोदंडा।*' धनुष-बाण धारण किये हुए मूर्ति प्रकट हुई है। इससे सूचित किया कि हम प्रणतारतिहर्ता, भक्तसुखदाता और असुरोंके नाशक हैं, यथा—'*अंगुलि त्रान कमान बान छबि सुरन्ह सुखद असुरन्हि उर सालति।*' (गी० ७। १७) (ग) मनु महाराजने प्रार्थना की कि जो स्वरूप शिवजी तथा भुशुण्डिजीके उरमें बसता है, उस स्वरूपका हमको दर्शन हो। श्रीशिवजी और कागभुशुण्डिजीके हृदयोंमें धनुषबाण धारण किये हुए ऐसी मूर्ति बसती है, इसीसे धनुषबाण धारण किये हुए मूर्ति प्रकट हुई। (प्रथम '*सर*' तब '*कोदंड*' कहकर जनाया कि दक्षिण हाथमें बाण है और वाममें धनुष। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'प्रभुकी द्विभुजमूर्तिका वर्णन है, श्रुति भी '**अयमात्मा पुरुषविधः**' कहती है। अर्थात् परमात्माकी मूर्ति पुरुष-सी है। उस अनाम और अरूपके दिव्य नाम और दिव्य मूर्तियाँ भी हैं, यहाँ द्विभुज मूर्तिका प्रकट होना दिखलाते हैं'।

टिप्पणी—३ (क) '*तड़ित बिनिंदक पीतपट*' इति। कटि कहकर तब पीतपटका वर्णन करते हैं। इससे सूचित करते हैं कि पीतपट कटिमें बाँधे हैं। यथा—'*कटि तूनीर पीतपट बाँधे।*' (२४४। १) '*केहरि कटि पटपीत धर* ………।'(२३३) पीतपट कहकर तब उदरका वर्णन करते हैं। इससे सूचित करते हैं कि पीताम्बर कन्धेपर पड़ा हुआ (काँखासोती) उदरतक लटक रहा है। दोनों जगह पीतपट जनानेके विचारसे किसी एक अङ्गमें धारण करना नहीं लिखा। [(ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ पीताम्बरके संग कोई अङ्ग नहीं कहे, इससे धोती, जामा, दुपट्टा, सर्वाङ्गके पटका प्रबोध करते हैं।(बै०) '*तड़ित बिनिंदक*' कहकर जनाया कि उसमें अलौकिक चमक है। यथा—'*पीत निर्मल चैल मनहुँ मरकत सैल पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही।*' (गी० ७। ६)] '*उदर रेख बर तीनि*'—पेटपर तीन बल (त्रिवली) का पड़ना शोभा सौन्दर्य माना गया है। यथा—'*नाभी सर त्रिबली निसेनिका, रोमराजि सैबल छबि छावति।*' (गी० ७। १७), '*रुचिर नितंब नाभि रोमावलि त्रिबलि बलित उपमा कछु आव न।*' (गी० ७। १६) (ग) '*नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवरछबि छीनि*' इति। यमुनाके भँवरकी उपमा देनेका भाव कि यमुनाजलके समान श्रीरामजीका श्याम शरीर है, यथा—'*उतरि नहाए जमुनजल जो सरीर सम स्याम।*' (२। १०९) '*छीनने*' का भाव कि नाभिकी शोभा सदा एकरस बनी रहती है और यमुनाकी छबि सदा नहीं रहती, उसमें भँवरें उठती हैं और मिट जाती हैं, जब मिट जाती हैं तब मानो भँवरकी छबिको नाभिकी छबिने छीन लिया। (वीरकविजी यहाँ 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' कहते हैं।)

नोट—३ विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि नाभिकी उपमा बहुधा—'*मैन मथानी दोत बिधि कुंड कूप रस भार। भँवर बिबर छबि रूपको नाभी गुफा सिंगार॥*' इसके अनुसार दी जाती है। अर्थात् कामदेवकी मथानी, ब्रह्मकी दवात, रसका कुण्ड, रसका कुआँ, शोभाकी भँवर, स्वरूपकी बाँबी और शृङ्गारकी गुफासे नाभिकी तुलना की जाती है, यथा—'*मो मन भंजन को गयो उदररूप सर धाय। पर्‍यो सुत्रिबली भँवरमें नाभि भँवरमें आय॥*'

वि० त्रि०—यही द्विभुज मूर्ति शम्भु उरवासी है, इसीके लिये मुनि यत्न करते हैं और यही भुशुण्डि-मन-मानसहंस है। इसीकी सगुण-अगुण कहकर वेदोंने प्रशंसा की है। इसीके उदरमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं। इसीके भीतर ही सब कुछ है, यह परिच्छिन्न दिखायी पड़ती हुई भी अपरिच्छिन्न है, सर्वाश्चर्यमय है, यही परमेश्वरी मूर्ति विश्व ब्रह्माण्डकी प्रतीक है, इसलिये इसे सगुण-निर्गुणरूप अनूपरूप कहा जाता है।

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहि जिन्ह* माहीं॥ १॥
बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥ २॥
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ ३॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिलास**=इशारा, हिलना, फेरना, मनोहर चेष्टा।

अर्थ—(उन) पदकमलोंका (तो) वर्णन नहीं हो सकता जिनमें मुनियोंके मनरूपी भौंरे बसते हैं॥ १॥ बाएँ भागमें छबिकी राशि, जगत्की मूल कारण आदिशक्ति (पतिकी शोभाके) अनुकूल सुशोभित हैं॥ २॥ जिनके अंशसे गुणोंकी खानि अगणित लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं॥ ३॥ जिनकी भृकुटिके विलास (मात्र) से जगत् (की रचना) हो जाती है, वे ही श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीके बायीं ओर (विराजमान) हैं॥ ४॥

नोट—१ *'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं'*।—श्रीबैजनाथजी यों अर्थ करते हुए कि 'कमल सम लाल, कोमल इत्यादि नहीं कहे जा सकते' इसका कारण यह लिखते हैं कि कमलमें जो भ्रमर रहते हैं वे श्यामवर्ण हैं, विषयरसके लोभी हैं और स्वार्थमें रत हैं और इन चरणकमलोंमें वास करनेवाले भ्रमर मुनियोंके मन हैं जो श्वेत (निर्मल), विषयरसरहित और परमार्थरत हैं और भक्तिरस पान करते हैं। *'पद राजीव'* में वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

नोट—२ आदिशक्तिकी छबिके वर्णनमें *'सोभति अनुकूला'* भर ही कहकर जना दिया कि वह भी छबि समुद्र हैं उनका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी अतुलित छबि है और फिर वे जगत्-माता हैं। यथा—*'जगत जननि अतुलित छबि भारी' 'कोटिहु बदन नहि बनै बरनत जगजननि सोभा महा।'* भावुकोंके लिये इतना कह दिया कि श्रीरामजीके अनुहरित ही सब शोभा है।†

टिप्पणी—१ (क) *'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं'* इति। भाव कि चरणोंकी शोभाका विस्तार भारी है। चरण ४८ चिह्नोंसे युक्त हैं, २४ अवतारोंके चिह्नोंसे युक्त हैं (अतएव उनका महत्त्व क्योंकर कहा जा सकता है? कहने लगें तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ हो जाय फिर भी पार नहीं पा सकते)‡। चरणको कमल कहा इसीसे मनको मधुप कहते हैं। (ख) *'मुनि मन मधुप बसहि.........'* इति। *'बसहि'* से सूचित किया कि मन-मधुप पदकमलका लोभी है, संसारसे तो बिरक्त हो गया पर इनका सान्निध्य (समीपता, पास) नहीं छोड़ता, यथा—*'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* ☞जहाँ मुनियोंके मन बसते हैं। वहीं ग्रन्थकारने भी रूप-वर्णनको समाप्त करके अपने मनको बसा दिया। उपासकोंके मनके बसनेका स्थान चरण है। (ग) *'बाम भाग सोभति अनुकूला।'* अनुकूल शोभति है, यह कहकर जनाया कि जैसी छबि रामजीकी है वैसी ही छबि श्रीसीताजीकी है। दोनों परस्पर एक-दूसरेसे शोभा पाते हैं। यही सूचित करनेके लिये अनुकूल शोभा लिखते हैं। जैसी छबि श्रीरामजीकी वर्णन की वैसी श्रीसीताजीकी नहीं वर्णन कर सकते; इसीसे *'सोभति अनुकूला'* इन्हीं दो शब्दोंसे सारी छबि कह दी है। माताकी

---

* जेन्ह १६६१।

† अथवा, 'अनुकूला=(१) पतिकी आज्ञानुकूल, यथा—'पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता॥ रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥ जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥'=(२) श्रीरामानन्दस्वरूपिणी, श्रीरामानन्दकारिणी।'—(करुणासिंधुजी)—(नोट—श्रीसीताजीका नित्यस्वरूप १२ वर्षका है।)

‡ श्रीचरणचिह्नों और उनके कार्यावतारोंका वर्णन श्रीभक्तमालतिलक 'भक्तिसुधास्वाद' तृतीयावृत्ति (सं० १९८३) में श्री १०८ रूपकलाजीने और 'श्रीचरणचिह्नों' में 'लाला भगवानदीनने भाषामें' स्पष्ट लिखा है। महारामायण सर्ग ५२ से ५७ तकमें इसका वर्णन विशेष रूपसे है।

छबिका वर्णन नहीं कर सकते। उनकी शोभा वर्णन करनेका अधिकार भी नहीं है। [खर्रामें 'अनुकूला' का अर्थ 'प्रसन्न' वा 'अनुकूल नायककी अनुकूला नायिका' दिया है। प्र० स्वामी लिखते हैं कि दोनों अर्थ लेना उचित है। रूप लावण्यादिमें अनुकूल और स्वभावसे भी अनुकूल; क्योंकि दोनों *'कहियत भिन्न न भिन्न'* हैं।] (घ) *'आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला'* इति। आदिशक्ति अर्थात् सब शक्तियाँ इसी शक्तिसे उत्पन्न हुई हैं। **छबिनिधि**=छबिसमुद्र अर्थात् छबिकी अवधि हैं। जगमूला अर्थात् प्रधानशक्ति हैं। आदिशक्ति और जगमूलाके अर्थ आगे स्पष्ट करते हैं।

नोट—३ *'आदि शक्ति।'*—आदि=प्रथम, प्रधान, मूलकारण। 'आदिशक्ति'=मूल कारण शक्ति, जो समस्त शक्तियोंकी मूल कारण और स्वामिनी हैं। करुणासिंधुजी तथा बैजनाथजी लिखते हैं कि ३३ शक्तियाँ हैं जो श्रीसीताजीके भृकुटि-विलासको निरख-निरखकर ब्रह्माण्डकी रचना और उसके सब कार्य करती हैं। यथा महारामायण—'**श्रीर्भूर्लीला तथोत्कृष्टा कृपा योगोन्नती तथा। ज्ञाना पर्वी तथा सत्या कथिता चाप्यनुग्रहा॥ २॥ ईशाना चैव कीर्त्तिश्च विद्येला क्रान्तिलम्बिनी। चन्द्रिकापि तथा क्रूरा कान्ता वै भीषणी तथा॥ ३॥ क्षान्ता च नन्दिनी शोका शान्ता च विमला तथा। शुभदा शोभना पुण्या कला चाप्यथ मालिनी॥ ४॥ महोदयाह्लादिनी च शक्तिरेकादशत्रिकाः। पश्यन्ति भृकुटी तस्या जानक्या नित्यमेव च॥**' इत्यादि। सर्ग॥ ५॥

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीसीताजीको आदिशक्ति इस विचारसे कहा है कि 'सब शक्तियाँ श्रीजानकीजीहीकी कला, अंश-विभूति हैं। मूलप्रकृति महामाया है जो जगत्‌की मूल कारण है वह श्रीजानकीजीका महद् अंश है। अंश-अंशीभावसे श्रीसीताजीको *'जगमूला'* कहा। प्रमाण महारामायण—'**जानक्यंशादिसंभूताऽनेकब्रह्माण्डकारणम्। सा मूलप्रकृतिर्ज्ञेया महामायास्वरूपिणी॥**'

बैजनाथजी—*'बाम भाग.........'* इति। वाम दिशि तो स्वाभाविक प्रतिकूलका स्थान है, इसीसे 'दिशि' शब्द न देकर 'भाग' शब्द दिया। भाग=हिस्सा। इस तरह इस चरणका अर्थ है कि 'ऐश्वर्य माधुर्य सम्पूर्णमें दक्षिण भागमें जैसी शोभा प्रभुकी अद्भुत कह आये हैं वैसी ही वाम भागमें आदि शक्तिकी शोभा विचार लीजिये।' पुनः वाम प्रतिकूलका स्थान है, इसके निवारणार्थ कहते हैं—*'सोभति अनुकूला।'* अर्थात् श्रीरामानन्दवर्द्धिनी हैं। भाव कि देखनेमात्रको दो रूप हैं पर वास्तवमें एक ही तत्त्व हैं। 'यही कारण है कि प्रथम दक्षिणाङ्गमें प्रभुके रूपमें केवल माधुर्य अर्थात् प्रत्येक अङ्गकी शोभा वर्णन की और वाम भागमें श्रीसीताजीके रूपमें अब केवल ऐश्वर्य वर्णन करते हैं। दोनों मिलाकर ऐश्वर्य-माधुर्य सर्वाङ्गका वर्णन पूरा किया।' अथवा यों कहें कि वाम भागमें श्रीसीताजीका ऐश्वर्य वर्णन करके श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य भी लक्षित किया, जैसे श्रीरामचन्द्रजीकी माधुर्य-शोभा कहकर उससे श्रीसीताजीकी भी शोभा लक्षित की।'

टिप्पणी—२ (क) *'जासु अंस उपजहिं गुन खानी.........'* इति। यह आदिशक्तिकी व्याख्या है। *'अगनित'* का भाव कि जैसे श्रीरामजीके अंशसे नाना शम्भु, विरञ्चि, विष्णु पैदा होते हैं वैसे ही श्रीसीताजीके अंशसे अगणित उमा, रमा, ब्रह्माणी पैदा हुई और होती हैं। वहाँ नाना यहाँ अगणित, वहाँ शम्भु, विरञ्चि, विष्णु, यहाँ उमा, ब्रह्माणी, लक्ष्मी। वहाँ भगवान् यहाँ गुणखानी। [श्रीबैजनाथजी *'गुन खानी अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी'* का भावार्थ यह लिखते हैं कि 'जिनमें विविध भाँतिके गुण हैं। अर्थात् महालक्ष्मी, नारसिंही, वाराही आदि सतोगुणी; ब्रह्माणी, इन्द्राणी, सौरी, कौबेरी आदि रजोगुणी और काली, भैरवी, कौमारी आदि तमोगुणी इत्यादि अगणित शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।] (ख) *'भृकुटि बिलास जासु जग होई।.........'* यह जगमूलाकी व्याख्या है। भृकुटिके विलास अर्थात् कटाक्षसे जगत् उत्पन्न होता है, यथा—*'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।'* [बैजनाथजी*'जग होई'* का अर्थ 'जगत्‌का व्यापार, सृष्टि-पालन और लय होता है।' ऐसा करते हैं। जब लोककी ओर दयामय भृकुटि होती है तब कार्य करनेवाली सब शक्तियाँ जगत्‌की रचना कर देती हैं। जबतक सौम्य दृष्टि बनी रहती है तबतक लोकका पालन करती रहती हैं। जब प्रभुका रुख देख भृकुटि टेढ़ी कर लेती हैं तब शक्तियाँ प्रलय कर देती हैं। इस तरह भृकुटि विलासके जगत्‌का व्यापार होता है। (वै०) ☞यहाँतक विशेषण कहकर अब विशेष्य कहते हैं। (ग)*'राम बाम दिसि सीता*

सोई।' श्रीसीतासहित प्रकट होनेका भाव कि मनुमहाराजकी प्रार्थना है कि अखण्ड ब्रह्म हमको दर्शन दें—'***अगुन अखण्ड अनंत अनादी***' इसीसे श्रीसीतासहित भगवान् प्रकट हुए। इससे पाया गया कि श्रीसीतासहित पूर्ण ब्रह्म है इसीसे सीतासहित प्रकट हुए। जब पूर्ण ब्रह्मने अवतार लेना कहा तब सीतासहित अवतार लेना कहा—'***सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।***' बिना सीताजीके ब्रह्मकी पूर्णता वहाँ भी न हुई, इसीसे सीतासहित अवतार लेना कहा।

नोट—४ (क) '***सीता सोई***' अर्थात् वही जिनके विशेषण कह आये। वे ही सीताजी हैं जो वाम भागमें सुशोभित हैं। पुनः '***सोई***' शब्द देकर शिवजी पार्वतीजीको इशारेसे जनाते हैं कि ये वही सीता हैं जिनको ढूँढ़ते हुए श्रीरामचन्द्रजीको तुमने दण्डकारण्यमें देखा था। (ख) यहाँ दोनोंके नाम देकर जनाया कि 'राम' और 'सीता' ये दोनों नाम सनातन हैं।

प० प० प्र०—मनुजी तो निर्गुण निराकार अदृश्य अव्यक्तादि सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही सगुण साकार रूपमें देखना चाहते थे तब उनको आदिशक्तिसहित दर्शन क्यों दिया गया? इसका कारण इतना ही है कि जो निराकार ब्रह्म है वह बिना मायाकी सहायताके सगुण साकार, नयन-विषय-गम्य हो ही नहीं सकता। इस दर्शनसे यह सिद्धान्त सूचित किया है। अवतार कार्य भी मायाकी सहायतासे ही होता है। इसीसे कह देते हैं कि '***आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥***' केवल निर्गुण निराकार ब्रह्म निष्क्रिय है। कोई भी कार्य हो, दोनोंसे ही होता है। केवल ब्रह्म या केवल मायासे कुछ नहीं होता है। यह तात्त्विक सिद्धान्त है। यथा—'**न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोः।**' (भा० १०। ८७। ३१)

वि० त्रि०-मनु-शतरूपाने पुंरूप और स्त्रीरूप दोनों रूपोंमें सम्बोधन किया था, यथा—'***सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू***' अतः भगवान् दो रूपसे प्रकट हुए। पुंरूपसे छबिसमुद्र हैं और स्त्रीरूपसे छबिनिधि हैं। स्त्रीरूपसे पुंरूपके अनुकूल हैं और जगमूल भी हैं। पुंरूपसे ब्रह्म हैं तो स्त्रीरूपसे मूलप्रकृति हैं। राम और सीतामें ऐसा अभेद और अनुकूलता है कि युगल मूर्तिके भृकुटि विलासमें भी अन्तर नहीं है। यथा—'***उमा रामकी भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥***' और '***भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥***' उसी सीताशक्ति द्वारा ही रामावतार होता है और भगवान् नयनविषय होते हैं—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**'। अतः कहा '***राम बाम दिसि सीता सोई।***'

छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥५॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥६॥
हरष बिबस तन दसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी॥७॥
सिर परसे प्रभु निज कर कंजा। तुरत उठाए करुनापुंजा॥८॥

दोहा—बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।
माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि॥१४८॥

शब्दार्थ—**एकटक**=टकटकी लगाये, स्तब्ध दृष्टिसे। **नयनपट**=नेत्रके किवाड़ वा परदे, पलक। **तृप्ति**=सन्तोष, जीका भर जाना, अघा जाना। **पानी**=पाणि, हाथ। **परसे**=स्पर्श किया, (सिरपर) हाथ रखा या फेरा। **करुनापुंजा**=करुणामय, करुणासे परिपूर्ण हृदयवाला, दयालु। करुणा मनका वह विकार है जो दूसरेके दुःखको दूर करनेकी प्रेरणा करता है। 'करुणा', यथा—'भगवद्गुणदर्पणे'—'**आश्रितार्त्त्याग्निनाहेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकद्रवत्। कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तनिवारणम्। इति व्यादुःखदुखित्वमार्त्तानां रक्षणे त्वरा। परदुःखानुसन्धानाद्विह्वली भवनं विभो। कारुण्यात्मगुरुत्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः।**'—(बैजनाथजी) **पुंज**=समूह।

अर्थ—शोभाके समुद्र भगवान्‌के (ऐसे) रूपको देखकर मनु-शतरूपाजी आँखोंकी पलकें रोके हुए

टकटकी लगाये (देखते) रह गये॥५॥ उस अनुपम रूपको आदरपूर्वक देख रहे हैं। दर्शनसे तृप्ति नहीं मानते (देखते-देखते अघाते नहीं)॥६॥ आनन्दके अधिक वशमें हो जानेके कारण देहकी सुध भूल गयी। वे हाथोंसे चरण पकड़कर दण्डेके समान पड़ गये॥७॥ करुणाकी राशि प्रभुने अपने कर-कमलसे उनके सिरोंको छुआ और तुरत उन्हें उठा लिया॥८॥ फिर वे कृपाके निधान बोले कि मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर और महान् दानी मानकर जो मनमें भावे वही वर माँग लो॥१४८॥

टिप्पणी—१ '*छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी।*.........' इति। '*देखहिं हम सो रूप भरि लोचन*' इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया कि भगवान्का रूप देखकर एकटक रह गये, पलक मारना बन्द कर दिया। (ख) ☞श्रीसीताजी छविनिधि हैं, श्रीरामजी छविसमुद्र हैं, इस तरह दोनोंकी छवि समान कही। दोनोंकी छवि कहकर तब फिर हरिको छवि समुद्र कहनेका तात्पर्य कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों एकरूप हैं, यथा—'*गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥*' (१८)

नोट—१ ☞छविको समुद्र कहा। समुद्रसे रत्न निकले वह यहाँ दिखाये हैं, यथा—(१) '*राम बाम दिसि सीता सोई*', '*उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला।*' (२) '*पदिक हार भूषन मनिजाला।*' (३) '*माँगु माँगु धुनि भइ नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी॥*' (४) '*चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।*' (५) '*करि कर सरिस सुभग भुजदंडा।*' (६-७ उदारतामें कल्पवृक्ष और कामधेनु हैं)—'*सुनु सेवक सुर तरु सुरधेनू।*' (८) '*सरदमयंक बदन छबिसींवा।*' (९) '*कटि निषंग कर सर कोदंडा।*'

नोट—२ समुद्र-मन्थनसे चौदह रत्न निकले थे, उनमेंसे यहाँ नौ (श्री, मणि (कौस्तुभ), अमृत, शङ्ख, हाथी (ऐरावत), कल्पवृक्ष, सुरधेनु, मयंक और कोदण्ड कहे। शेष पाँचमेंसे चार तो निकृष्ट हैं। अप्सराएँ वेश्या हैं, वारुणी मादक है, अश्व चञ्चल है और विष प्राणनाशक है। रहे धन्वन्तरि वैद्य सो वे तो भगवान्के कलांशावतार ही हैं। इसीसे इन पाँचको न कहा। पुनः जिसे देवता और दैत्योंने मथा वह प्राकृत समुद्र था और यह दिव्य छबि सुधासमुद्र है। देवता और दैत्य दोनों मथनेमें सम्मिलित थे इसीसे उसमेंसे उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों प्रकारके रत्न निकले थे। और इसे केवल परम भक्त दम्पति राजर्षि मनुने अपने शुद्ध अनन्य प्रेम एवं तपरूप रज्जु तथा मथानीसे मथा था, इसमेंसे उत्तमोत्तम रत्न ही प्रकट हुए। (वे० भू०)

नोट—३ वेदान्तभूषणजीका मत है कि यहाँ श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन समुद्रकी लहरोंके समान किया गया है। अर्थात् समुद्रकी लहर जैसे ऊपर उठती है फिर नीचे जाती है, फिर ऊपर जाती और पुनः नीचे गिरती है, यह क्रम किनारे आनेतक बराबर रहता है; इसी तरह मनुके देखनेमें कभी ऊपरका अङ्ग, कभी नीचेका, फिर ऊपर फिर नीचे; इसी क्रमसे मुखसे दर्शन आरम्भ हुआ और पदकमलपर आकर श्रीसीताजीकी ओर देखना प्रारम्भ हो गया, यथा—प्रथम मुखको देखा फिर क्रमशः कपोल, चिबुक और कण्ठको, इसके बाद उन्हें क्रमशः नीचेके अङ्ग देखने चाहिये थे किन्तु ऐसा न करके उन्होंने पुनः ऊपर देखना शुरू किया। ओष्ठ, दाँत, नासिकाको क्रमशः देख फिर नासिकाके नीचे हासका दर्शन करने लगे। तत्पश्चात् फिर दृष्टि ऊपर गयी, नेत्र, भौंह, तिलक और ललाटका दर्शन किया फिर नीचे कुण्डलपर आ गये। पुनः ऊपर मुकुट फिर नीचे केश और सिर। फिर नीचे उरको देख ऊपर कन्धे, जनेऊ और बाहु देखे, तब फिर नीचे कटि देखने लगे। तत्पश्चात् फिर ऊपर कर तब नीचे उदरकी रेखाएँ, पुनः ऊपर नाभि फिर नीचे चरण।—यही दर्शन समुद्रवत् लहरोंका उठना गिरना इत्यादि है, अतः छबिसमुद्र हरिरूप कहा। [समुद्रमें नित्य नयी तरङ्गें उठा करती हैं वैसे इस छवि-समुद्रमें रूपकी तरङ्ग उठा करती हैं, देखनेवाला तृप्त नहीं होता। (वि० त्रि०)]

बैजनाथजी—'*छबिसमुद्र हरिरूप*' कहनेसे एक ही रूपका बोध होता है और यहाँ हैं युगलस्वरूप। तब अर्थ कैसे बने? समाधान—जनकपुरमें युगलसरकारोंके सम्बन्धमें कहा है—'*राम रूप अरु सिय छबि देखे। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषे॥*' वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। यहाँ प्रथम ही श्रीकिशोरीजीकी शोभा '*छबिनिधि*' शब्दसे गुप्तरूपसे कह आये ही हैं। हरि रूपके समुद्र हैं और किशोरीजी छविकी तरङ्ग

हैं। छविके नौ अङ्गोंमेंसे एक अङ्ग रूप भी है। इस प्रकार *'छबि समुद्र रूप'* का अर्थ होगा *'नव अंग युक्त छबितरंग'* (श्रीजानकीजी) *'सहित हरि रूप अगाध समुद्र'।*

नोट—४ (क) श्रीयुगलसरकारोंका ध्यान कहकर तब छवि-वर्णनकी इति लगायी। ऐसा करके दोनोंको एक ही रूप जनाया। *'सरद मयंक बदन छबिसीवाँ'* उपक्रम है और *'छबिसमुद्र हरिरूप'* पर उपसंहार है। (ख) पाँड़ेजी तथा सन्त श्रीगुरुसहायलालजी *'छबिसमुद्र हरिरूप निहारी·········'* का अर्थ यह करते हैं कि 'छबिसमुद्र जो सीताजी हैं उनके शृङ्गारके भीतर हरिरूपको देखकर एकटक रहे।'

नोट—५ श्रीजानकीशरण कहते हैं कि (क) 'हरिहीके लिये मनुजीने यात्रा की, हरिहीके लिये तप किया, वही *'हरि'* शब्द यहाँ भी दिया गया। यह ऐश्वर्यसूचक नाम है।' (ख) पहले *'छबिनिधि'* फिर *'छबिसमुद्र'* कहकर बताया कि दोनों स्वरूपोंपर टकटकी लगी है।' विष्णु-नारायणादि भी हरि हैं पर ये छविसमुद्रके हरि हैं—*'एहि के उर बस जानकी जानकी उर मम बास है',* क्षीरसमुद्रके नहीं। क्षीरसमुद्रके हरि तो इनके अंश हैं।' [यहाँ हरि शब्द देकर जनाया कि परात्पर परब्रह्म हरि यही 'सीताराम' ही हैं, अन्य कोई 'हरि' नहीं—'रामाख्यमीशं हरिम्'। *'एकटक रहे'* का भाव कि पलकमात्रका विक्षेप सह नहीं सकते।]

टिप्पणी—२*'चितवहिं सादर रूप अनूपा·····'* इति। (क) ☞भगवान्‌की उपमा कोई नहीं है, यथा—*'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहें।'* (३११) *'निरुपम न उपमा आन राम समान राम·····।'* (७। ९२) दोनों नेत्रोंद्वारा रूपामृतको पान कर रहे हैं। यथा—*'पियत नयनपुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥'* (२। १११) (यह *'तापस'* के सम्बन्धमें कहा गया है)। रूपदर्शनके ये दोनों अत्यन्त भूखे थे, इसीसे *'सादर'* (आदरपूर्वक) रूप देख रहे हैं। भूखा अन्नका अत्यन्त आदर करता ही है—यह *'सादर'* का भाव है। (ख) *'तृपि न मानहिं'* —रूप (माधुरी) अमृत है इसीसे पान करनेसे तृप्ति नहीं होती। नेत्र प्रेमप्यासे हैं, यथा—*'दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पियासे नयन।'* (२। २६०) ऐसा प्रेम है कि छविसमुद्र भी पाकर तृप्ति नहीं होती, यह प्रेमकी विशेषता दिखायी। [समुद्र पाकर भी तृप्त न हुए क्योंकि कितने हजारों वर्षोंके तृषित हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि माधुरीमें यही प्रभाव है, यथा—*'देखे तृप्ति न मानिये सो माधुरी बखान।'*]

टिप्पणी—३ (क) *'हरष बिबस तन दसा भुलानी·········'* इति। भाव कि पहले तनकी सुध थी इसीसे दण्डवत् की थी—*'बोले मनु करि दंडवत',* अब तनकी सुध भूल गयी, इसीसे दण्ड (डण्डे) की नायीं (तरह) चरणोंपर गिर पड़े। यहाँ दण्डवत् करना नहीं कहते। क्रमशः दिखाते हैं कि रूप देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ, हर्षविवश होनेसे तनकी दशा विस्मृत हो गयी, (शरीरकी सुध-बुध न रह गयी) तनकी सुध भुलानेसे चरणोंमें गिर पड़े। भाव कि शरीरकी सुध न रही अर्थात् शरीर जड़वत् हो गया, इसीसे दण्डवत् गिरना कहा। दशा=सुध। ☞[श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कहा है कि *'भूतल परे लकुट की नाईं'* और यहाँ *'परे दंड इव'* कहा। दोनोंमें भेदका कारण यह है कि श्रीभरतजी श्रीसीतारामजीके विरह और शोकमें कृश हो गये थे इससे उनकी उपमा लकुट अर्थात् पतली छड़ीसे दी और श्रीमनुशतरूपाजी हृष्ट-पुष्ट हैं—*'मानहु अबहिं भवन ते आए।'* इससे उनके विषयमें 'दण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ।] (ख) ☞मनु महाराजने भगवान्‌का आदर किया। दण्डवत् करना एवं दण्डवत् चरणोंपर गिरना यह आदर है। भगवान्‌ने मनुजीका आदर किया। सिरपर हाथ फेरकर उनको तुरंत उठाया। यह आदर है,*'सिर परसे प्रभु·········'*। (ग)*'तुरत उठाए करुनापुंजा'।* बहुत देरतक पड़े रखनेसे मनुजीका 'अनादर' होता (तुरत न उठानेसे सेवकका निरादर और स्वामीमें निठुरता सूचित होती। इसी तरह यदि सेवक स्वयं ही उठ पड़े तो उसमें प्रेमकी न्यूनता प्रकट होती है।) इसीसे *'तुरत उठाए'* और करुणापुञ्ज कहा। करुणाके पुञ्ज हैं, यथा—*'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराईं॥'* (२। ८५) इसीसे तुरत उठाया। ☞मनुके ऊपर मन-वचन-कर्मसे भगवान्‌की कृपा है, यह यहाँ स्पष्ट दिख रहा है,—सिरपर हाथ फेरा यह कायिक कृपा है। करुणापुञ्ज यह मानसिक कृपा है और *'बोले कृपानिधान पुनि'* यह वाचिक कृपा है।

नोट—५ 'श्रीहनुमान्‌जी, विभीषणजी, भरतजी इत्यादि जो-जो प्रभुके चरणोंपर पड़े उन सबोंको

उन्होंने उठाकर हृदयसे लगाया। यहाँ उठाना तो कहा गया परंतु हृदयमें लगाना नहीं वर्णन किया गया, यह क्यों?' समाधान यह है कि 'अभी दम्पति और प्रभुमें पिता-पुत्रका भाव नहीं है। मनु और शतरूपा दोनोंहीने दण्डवत् की। प्रभुने दोनोंके सिरोंपर कर-कमल फेरा। यहाँतक बात ठीक बनी सो कही। दोनोंने एक-सा तप किया, हृदयसे लगावें तो दोनोंको, यदि एकको छातीसे लगावें दूसरेको नहीं तो दूसरेका अपमान सूचित होगा। मनुजी अकेले होते तो उनको हृदयसे अवश्य लगाते। परायी स्त्रीको हृदयसे लगाना अति अयोग्य है; इस कारण शतरूपाजीको हृदयसे न लगा सकते थे। अतएव केवल उठाना ही कहा। गोस्वामीजीकी सँभार, उनकी सावधानता, लोकधर्म-मर्यादाकी रक्षा विलक्षण है, यह उन्हींसे बना है।' (प्र० सं०)

नोट—६ मयंककार कहते हैं कि सिर स्पर्शकर उठाना, यह वात्सल्य रस है। नैमिषारण्यमें रामचन्द्रजीकी ओरसे वात्सल्य रस जानो और अवधमें उलटा मनुकी ओरसे वात्सल्य रस जानो क्योंकि वहाँ मनुके पुत्र प्रकट हुए।' (प्र० सं०)

नोट—७ अलंकार—यहाँ कर उपमेयसे जो काम स्पर्श और उठानेका होना चाहिये वह उसके उपमान कमलद्वारा होना कहा गया। अतएव 'परिणाम' अलंकार हुआ।

टिप्पणी—४ (क) '*बोले कृपानिधान पुनि*' इति। '*पुनि*' का भाव कि उठाकर हृदयमें नहीं लगाया, क्योंकि राजाको हृदयमें लगानेसे रानीका 'अभाव' होता, रानीको उरमें नहीं लगा सकते। पुनः भाव कि एक बार प्रथम ही बर माँगनेको कह चुके हैं—'*माँगु माँगु बर भै नभ बानी*', अब पुनः बोले। पुनः भाव कि प्रथम उठाया, उठाकर तब बोले। पुनि=तत्पश्चात्, तब। (ख) '*अति प्रसन्न मोहि जानि माँगहु बर*……' इति। (भाव कि जो अपनी ओरसे तुमने माँगा सो तो हमने दे दिया पर हम प्रसन्न ही नहीं किंतु 'अति प्रसन्न' हैं यह बात इतनेसे ही समझ लो कि हम अपनी ओरसे तुमसे कहते हैं कि और भी जो कुछ चाहो सो माँग लो। इतना मात्र देनेसे हमको सन्तोष नहीं हुआ, अतः और भी माँगो। कृपाकी बलिहारी!! '*जासु कृपा नहिं कृपा अघाती*'।) (ग) '*अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर*……' इति। यहाँतक वर देनेमें तीन विशेषण दिये—एक तो '*महादानी*', दूसरे '*अति प्रसन्न*' और तीसरे '*कृपानिधान*'। कृपानिधान हैं, अतएव कृपा करके प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर सब कुछ दे देते हैं। '*अति प्रसन्न*' का भाव कि तुमने कहा था कि '*जौं अनाथ हित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥*' अर्थात् प्रसन्न होकर हमें दर्शन दीजिये, सो हमने प्रसन्न होकर दर्शन दिया, अब हम अति प्रसन्न हैं जो तुम माँगो सो हम दें। (घ) '*महादानि अनुमानि*' अर्थात् महादानी समझकर वर माँगो; इस कथनका भाव यह है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं, उनके हृदयकी जानते हैं कि जो वर ये माँगना चाहते हैं वह अगम है ऐसा जानकर ये न माँगेंगे (जैसा आगेके इनके वचनोंसे स्वयं स्पष्ट है—'*एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जात सो नाहीं॥ तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहि निज कृपनाईं॥*' (ङ) भगवान्ने पुनः वर माँगनेको कहा, क्योंकि राजाके हृदयमें (वरकी) लालसा है, यथा—'*एक लालसा बड़ि उर माहीं*'। पुनः दूसरा भाव यह है कि तपका फल तो दर्शन हुआ (सो दे दिया) अब दर्शनका फल होना चाहिये, क्योंकि दर्शनका फल अमोघ है, यथा—'*जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥*' (५। ४८)

नोट—८ '*महादानि अनुमानि*' इति। मनुजीके हृदयमें सन्देह है कि यह वर मिले कि न मिले। अतएव प्रथम ही उनको निस्सन्देह कर देनेके लिये कहा। ☞स्मरण रहे कि ब्रह्मादि कुछ-न-कुछ छुड़ाकर वर देते हैं, वरमें कुछ-न-कुछ शर्त लगा देते हैं। जैसे रावणको वर देनेमें '*बानर मनुज जाति दुइ बारे*' ऐसा उससे कहलाकर वर दिया। वे दानी हैं और श्रीसीतारामजी महादानी हैं क्योंकि ये सब कुछ, अपनेतकको भी देनेवाले हैं। (प्र० सं०) '*अनुमानि*' का भाव कि मुझे अनुमानसे जानो कि मैं महादानी हूँ। विधि हरिहर दानी हैं, तब अनुमानसे सिद्ध है कि जिसके अंश दानी हैं, वह अंशी महादानी क्यों न होगा?

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ वामभागमें अर्थात् श्रीकिशोरीजीमें ऐश्वर्य वर्णन किया है। राजा-रानीको इस ऐश्वर्यकी कामना नहीं है। इसीसे श्रीकिशोरीजी नहीं बोलीं। दक्षिणभाग प्रभुरूपमें माधुर्य वर्णन किया गया है, उसीकी चाह दोनोंको है। इसीसे प्रभु ही बोले।' (लोकरीति यह है कि जब स्त्री-पुरुष दोनों साथ होते हैं तब प्राय: पुरुष ही बातचीत करता है।)

सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले* मृदु बानी॥ १॥
नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥ २॥
एक लालसा बड़ि उर† माहीं। सुगम अगम कहि जात जो नाहीं॥ ३॥
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहि निज कृपनाईं॥ ४॥

शब्दार्थ—पूरे=पूर्ण हुए, प्राप्त हो गये। **लालसा**=अभिलाषा, उत्कट इच्छा। **कृपनाई**= कृपणता, कंजूसी, कादर्य, क्षुद्रता, छोटा हृदय होनेसे।

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर वे दोनों हाथ जोड़कर धीरज धरकर कोमल वाणीसे बोले—हे नाथ! आपके चरणकमलोंका दर्शन पाकर अब हमारी सब इच्छाएँ पूरी हो गयीं॥ १॥ मेरे हृदयमें एक बहुत बड़ी लालसा है जो सुगम भी है और अगम भी; इसीसे वह कही नहीं जाती॥ ३॥ हे स्वामी! आपको तो देनेमें अत्यन्त सुगम है, पर मुझे अपनी कृपणताके कारण बहुत कठिन जान पड़ती है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी'*······ 'इति। (क) *'सुनि प्रभु बचन'* का भाव कि यदि भगवान् वर माँगनेको न कहते तो राजा वर न माँग सकते क्योंकि एक बार वर माँग चुके हैं (और वह मिल चुका है। *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* यह वर माँगा था सो मिला; यथा—*'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥'* (ख) *'धरि धीरज बोले मृदु बानी'* इति। [पूर्व कहा था कि *'एकटक रहे नयनपट रोकी'* और *'प्रेम बिबस तन दसा भुलानी'* इसलिये यहाँ धीरज धारण करना कहा। पुन:] *'धरि धीरज'* का भाव कि पूर्व *'प्रेम बिबस तन दसा भुलानी'* रही, अब प्रभुने जब उठाया और वर माँगनेको कहा तब सावधान होकर बोले। (ग) *'जोरि जुग पानी।'* हाथ जोड़कर बोले क्योंकि जो वर माँगना चाहते हैं कि आप हमारे पुत्र हों वह अगम है अत: हाथ जोड़कर माँगते हैं। कठिन वर माँगनेकी यह रीति है। यथा—*'माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥'* (२। २९) (कैकयी)। पुन: भाव कि प्रथम बोले तब दंडवत् करके बोले थे, यथा—*'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात।'* (१४५) अब हाथ जोड़कर बोले। तात्पर्य कि जब दंडवत् चरणोंपर गिरे *'परे दंड इव गहि पद पानी'* तब भगवान्‌ने उन्हें उठा लिया, तब हाथ जोड़कर बोले। (वा, पहिले भगवान् प्रकट न थे, केवल आकाशवाणी हुई थी तब दंडवत् करके बोले थे। अब प्रत्यक्ष हैं, दंडवत् कर ही चुके हैं, और स्वामी हैं, वर माँगना है अत: अब हाथ जोड़कर बोले।) (घ) यहाँ राजाके तन, मन, वचन तीनों दिखाये। तनसे हाथ जोड़े, मनसे धीरज धरा और वचनसे मृदु बोले।

टिप्पणी—२ (क) *'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे'*······ ' इति। सच्चे भक्त बिना परम प्रभुके दर्शन पाये, अधिकारीवर्गके दर्शनसे संतुष्ट नहीं रह सकते, अत: मनु-शतरूपाजीको प्रथम स्वरूपदर्शनकी

---

* १६६१ में 'बोली' है। १७६२ में भी 'बोली' है। अर्थ होगा—'कोमल वाणी बोलीं', 'बानी' एवं 'मृदु बानी' के साथ 'बोले' अन्यत्र भी आया है। यथा—'पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी।' (१५९। २) 'बोले राम सुअवसरु जानी। सील सनेह सकुचमय बानी॥' (३३६। ४) इत्यादि। अत: हमने 'बोले' पाठ ही समीचीन समझा है। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'बोलीं' क्रियाके कर्ता मनु और शतरूपा हैं। ('तृपित न मानहिं मनु सतरूपा'।) क्रियाका सम्बन्ध 'सतरूपा' के साथ है इसलिये क्रियाका प्रयोग स्त्रीलिङ्गमें हुआ।

† मन—रा० प०, वै०।

कामना थी, यथा—*'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥'* उसका दर्शन हो गया इसीसे स्वरूपको देखनेपर कहते हैं कि अब हमारे सब काम पूरे हो गये। अर्थात् अब माँगनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। इसीसे आगे अन्य कोई वस्तु नहीं माँगते, इसी रूपकी प्राप्ति माँगते हैं, हमारे पुत्र हूजिये यही माँगना चाहते हैं। रूपके (दर्शन) पानेपर भगवान्‌ने अन्य वर माँगनेको कहा, उसीपर मनुजी कहते हैं कि रूप छोड़कर हमारे मनमें अन्य कोई कामना नहीं है, हमारी सब कामना रूप ही है सो पूरी हो गयी। अथवा, भगवान्‌के चरणकमलके दर्शनसे सब कामनाएँ पूरी होती हैं, इसीसे सब कामनाओंका पूरा होना कहा। [पुनः मनुजी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इत्यादि जो कुछ भी है वह सब कुछ श्रीसीतारामजीहीको जानते हैं, अतएव उनके दर्शनसे सब कामनाओंका पूर्व होना कहा। (प्र० सं०)

टिप्पणी—३ (क)*'एक लालसा बड़ि उर माहीं'* इति। एक लालसा है सो भी स्वरूपहीकी प्राप्ति की है। पुनः भाव कि चरणकमलके दर्शनसे सब कामनाएँ पूर्ण हुईं, अब एकमात्र यही एक लालसा रह गयी है सो इसे भी पूरी कीजिये। पुनः भाव कि लालसा 'एक' ही है जो पूर्व थी वही है, दूसरी नहीं है। प्रथम रूप प्रकट होनेकी थी, अब उसके सदा संयोगकी है। *'बड़ि'* का भाव कि पूर्व जो लालसा थी उससे यह बड़ी है। पूर्वकी लालसासे भगवान्‌की प्राप्ति क्षणभरके लिये हुई (यह दर्शन घड़ी-दो-घड़ीका ही है) और इस लालसासे पुत्र होनेसे रूपका संयोग सदा (आजीवन) रहेगा, अतएव इसे 'बड़ी' कहा। (ख) *'सुगम अगम'* इसकी व्याख्या आगे स्वयं ही करते हैं। (ग) रूप देखकर तृप्ति नहीं हुई—*'तृपित न मानहिं मनु सतरूपा।'* इसीसे पुनः रूपकी प्राप्ति माँगते हैं। (घ) *'कहि जात सो नाहीं'* अर्थात् इतनी अगम है कि वर माँगनेकी बात मुँहसे भी कही नहीं जाती। (रा० प्र० कार अर्थ करते हैं कि 'सुगम है वा अगम' यह कहा नहीं जा सकता।)

वि० त्रि० गृहस्थोंकी लालसा देखिये। जिसे भगवदंश उत्तानपाद और प्रियव्रत-ऐसे पुत्र हुए, किसीसे न प्राप्त होनेवाले पदको प्राप्त करनेवाले ध्रुव-जैसे पौत्र हुए, साक्षात् भगवदवतार कपिलदेव-जैसे जिसे नाती हुए, उसे अब प्रभु-सा पुत्र प्राप्त करनेकी लालसा हुई। अतः इस लालसाको बड़ी बतलाया।

नोट—१ *'अब पूरे सब काम हमारे'* में द्वितीयविशेष अलंकार है। यह कहकर फिर *'एक लालसा बड़ि मन माहीं'* कहना 'निषेधाक्षेप' है। (वीरकवि) कुछ लोग कहते हैं कि मनुजीकी लालसा दर्शनकी थी सो पूरी हो गयी। प्रभुने लीलाहेतु अब यह रुचि उनमें उत्पन्न कर दी है। ☞स्मरण रहे कि मनुजीके सामने परम प्रभु अपने असली रूपसे खड़े हैं आगे लीला तनके प्रकट होनेका वरदान देंगे।

टिप्पणी—४ *'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं'*……।' इति। (क) *'अति सुगम'* का भाव कि दानीको 'सुगम' है और आप महादानी हैं अतः आपको *'अति सुगम'* है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है *'माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि'*, इसीसे *'अति सुगम'* कहा। (ख) *'गोसाईं'* का भाव कि आप 'गौ' (कामधेनु) के स्वामी हैं, अतएव आपके लिये उसका देना *'अति सुगम'* है। आगे कल्पतरुका दृष्टान्त देते हैं अतः उसके साहचर्यसे यहाँ *'गोसाईं'* का अर्थ कामधेनुके स्वामी अति संगत है। (ग) *'अगम लाग मोहि निज कृपनाई।'* अर्थात् अपनी कृपणताके कारण वह लालसा हमें इतनी अगम लग रही है कि मुँहसे निकालनेमें संकोच होता है। *'अगम लाग'* का भाव कि वस्तुतः आपके लिये वह अगम नहीं है परंतु मुझे अगम लगती है। (मुझे जान पड़ता है कि आप शायद न दे सकें) इसीसे संकोच होता है, माँगा नहीं जाता। [*'सुगम अगम'* में 'विरोधाभास अलङ्कार' है। आपकी ओरसे अगम नहीं है, पर मुझे अपनी क्षुद्रताके कारण मिलनेमें सन्देह होता है, यथा—*'अपडर डरेउँ न सोच समूले।'* (२। २६७) इसी बातको दरिद्रका दृष्टान्त देकर कहते हैं। (प्र० सं०)

नोट—२ *'गोसाईं'* शब्द देकर सूचित करते हैं कि आप हृदयकी जानते हैं, इन्द्रियोंके स्वामी और प्रेरक हैं। 'गो' का अर्थ 'इन्द्रिय' भी है यथा—*'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'* (३। १५। ३) *'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'* (४। १०) सुरतरु

जड़ है वह दरिद्रके जीकी नहीं जानता, बिना माँगे नहीं देता। आप अन्तर्यामी हैं। यहाँ परिकराङ्कुर अलङ्कार है। हृदयकी जानकर स्वयं वर देनेकी कृपा करें, मुझसे कहते नहीं बनता। पुन: आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ; स्वामी दासके मनोरथको पूरा किया करते हैं; अतएव मेरा मनोरथ पूरा कीजिये। (प्र० सं०)

नोट—३ श्रीकरुणासिंधुजी कहते हैं कि यहाँ *'निज कृपनाई'* से कार्पण्य शरणागतिका भाव भी निकलता है। कितना ही कोई जप, तप आदि करे, पर उसके मनमें यह बात स्वप्नमें भी न आनी चाहिये कि मैंने कुछ किया है। प्रभुसे बराबर यही प्रार्थना करनी चाहिये कि मुझसे कुछ नहीं बना, मैं अति दीन हूँ, इत्यादि। वैसे ही यहाँ इतना बड़ा तप करके भी मनुजी अपनेको कृपण कहते हैं।

☞लाखों वर्षके तपका कोई महत्त्व नहीं है। प्रभुके रिझानेके लिये दीनता और प्रीति मुख्य हैं, यथा—*'तुलसी राम कृपालु ते कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'* देखिये महर्षि अत्रिजी क्या कहते हैं—*'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।'* अनन्य भक्त श्रीसुतीक्ष्णजी भी क्या सोच रहे हैं—*'हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥ ''''''''मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥ नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥'*

जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई*॥ ५॥
तासु प्रभाउ जान नहि सोई। तथा हृदय मम संसय† होई॥ ६॥
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥ ७॥
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरें नहिं अदेय कछु तोही॥ ८॥
दो०—दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहौं तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥ १४९॥

शब्दार्थ—**बिबुधतरु**=कल्पवृक्ष, सुरतरु। **बिहाइ**=छोड़कर, दूर करके। **अदेय**=जो न दी जा सके। **सिरोमनि** (शिरोमणि)=मुकुटमणि, श्रेष्ठ। **सतिभाउ**।=सच्चा भाव=सद्भावसे। दोहा (४ । १) देखिये। **दुराउ** (दुराव)=छिपाव।

अर्थ—जैसे कोई दरिद्र कल्पवृक्षको पाकर भी बहुत सम्पत्ति माँगते हुए संकोच करता है (हिचकता है)॥ ५॥ (क्योंकि) वह उसके प्रभावको नहीं जानता, वैसे ही मेरे मनमें संदेह होता है॥ ६॥ आप अन्तर्यामी हैं, उसे जानते ही हैं। हे स्वामिन्! मेरे मनोरथको पूरा कीजिये॥ ७॥ (प्रभु बोले) हे राजन्! संकोच छोड़कर मुझसे माँगो। तुम्हारे लिये मेरे पास ऐसा कुछ (कोई पदार्थ) भी नहीं है जो तुमको न दे सकूँ॥ ८॥ (मनुजी तब बोले) हे दानियोंमें शिरोमणि! हे दयासागर! हे नाथ! अपना सच्चा भाव एवं सत्यासत्य कहता हूँ, प्रभुसे क्या छिपाना, मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ॥ १४९॥

टिप्पणी—१ *'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई।'''''''* इति। (क) भाव कि मैं दरिद्र हूँ आप कल्पवृक्ष हैं, आपके प्रभावको मैं नहीं जानता, इसीसे हृदयकी लालसा प्रकट करनेमें सकुचता हूँ। ☞ प्रथम जब वर माँगा था तब भगवान्‌को *'सुरतरु सुरधेनु'* कहा था, वैसे ही अब पुन: सुरधेनु और सुरतरु कहकर तब वर माँगते हैं। *'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं'* में *'सुरधेनु'* को कहा और यहाँ *'बिबुधतरु'* को कहते हैं। (ख) *'बिबुधतरु पाई'* का भाव कि कल्पवृक्ष एक तो किसीको जल्दी मिलता नहीं और दरिद्रको तो अगम ही है। (ग) *'बहु संपति माँगत सकुचाई।'* [भाव कि यदि दैव योगसे मिल भी जाय तो भी बहुत धन माँगनेमें उसे संकोच होता है, कारण कि दरिद्रताके कारण उसका हृदय बहुत छोटा हो जाता है वह बड़ी वस्तुकी लालसा करते डरता है। यद्यपि जीमें चाह बहुतकी है। वैसे ही मेरे जीमें लालसा बहुत बड़ी सम्पत्तिकी है पर माँगनेकी हिम्मत नहीं पड़ती (वा साहस नहीं होता)। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि देवतरु सब कुछ देनेयोग्य है पर दरिद्र बहुत समझकर माँगते डरता है, क्योंकि वह अपनेको

* संकुचाई—१६६१। † १६६१ में 'संसया' है।

उतना पानेका पात्र नहीं समझता इसीसे उसे सन्देह रहता है कि मिले या न मिले। ☞जब रूप प्रकट होनेका वर माँगा तब 'कम संपत्ति' थी क्योंकि यह रूप (दर्शन) क्षणभर ही रह सकता है। अब जब पुत्र होकर सदा इस रूपका संयोग माँगते हैं तब इस वरको *'बहु संपति'* कहा, क्योंकि यह सम्पत्ति जन्मभरके लिये है, जन्मभर चलेगी, जन्मभर इस स्वरूपका दर्शन होगा। भगवान् सम्पत्ति हैं, कम प्राप्तिमें कम सम्पत्ति है, बहुत (दिनोंके लिये) प्राप्तिमें बहुत सम्पत्ति है। यहाँ उदाहरण अलंकार है।

टिप्पणी—२ *'तासु प्रभाउ जान नहि सोई।.......'* इति। (क) **सोई**=वह दरिद्र। संशय यह कि यह वर बहुत भारी है न मिलेगा, इसीसे नहीं माँग सकते। ☞भगवान्‌के लिये इतना भारी तप किया उसपर भी अपनेको 'कृपण', 'दरिद्र' कहते हैं? तात्पर्यकी बात तो वस्तुतः यही है कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये करोड़ों कल्पोंतक तप करे तो भी कुछ नहीं है। भगवान् तो कृपा करके भक्तको मिलते हैं, तपके फलसे नहीं मिलते, ये पूर्व ही कह आये हैं। यथा—*'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥'* अनन्य दास जानकर भगवान् उनको प्राप्त हुए, तप देखकर तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश आये थे, यथा—*'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥'* क्योंकि ये तीनों देवता तपके फलके देनेवाले हैं।

टिप्पणी—३ *'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु ....'* इति। (क) भाव कि दरिद्र कल्पवृक्षके प्रभावको नहीं जानता, इसीसे बहुत सम्पत्ति माँगते सकुचाता है और कल्पवृक्ष भी दरिद्रके हृदयकी नहीं जानता क्योंकि जड़ है इसीसे वह उसके मनोरथ पूरे नहीं करता, उससे माँगना पड़ता है तब वह देता है। यथा—*'माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच।'* (२। २६७) यह दोष कल्पतरुमें है पर आप अन्तर्यामी हैं, आप हृदयकी जानकर मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। (ख) *'तुम्ह जानहु'* का भाव कि मैं आपके प्रभावको नहीं जानता, मैं ज्ञानरंक हूँ, आप मेरे हृदयकी जानते हैं क्योंकि आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदयकी लालसा आप पूरी करें। (ग) *'स्वामी'* का भाव कि मैं 'आपका दास हूँ' दासका मनोरथ स्वामी ही पूरा करते हैं—(*'राम सदा सेवक रुचि राखी'*) [बैजनाथजीका मत है कि सुसेवक कुछ माँगते नहीं, स्वामी उनके मनमें मनोरथ उठते ही पूर्ण करते हैं, इसी भावसे *'स्वामी'* सम्बोधन किया। अथवा पुत्र बनाना चाहते हैं जो सेवक पद है, अतः उसके निवारणार्थ 'स्वामी' कहा। भाव यह कि पुत्रहीमें स्वामित्व चाहते हैं, यह वात्सल्य रसकी रीति है।]

प० प० प्र०—**बिबुधतरु**=सुरतरु। यह वाच्यार्थ है। सुरतरु माँगनेपर देता है, पर याचकके मनकी इच्छाको वह नहीं जानता। पर वि (=विशेष)+ बुध (=विद्वान्) अर्थात् विशेष विद्वान् तरु हो तो माँगनेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रभु तो *'जानसिरोमनि भावप्रिय'* हैं, इससे कहा कि आप जड़ कल्पतरु नहीं हैं आप तो विशेष अन्तःकरणके जाननेवाले तरु हैं; अतः आप मेरी लालसा जानते ही हैं, उसे पूर्ण कीजिये। आप जड़ वृक्ष नहीं हैं, आप तो **'तरन्त्यनेनेति तरुः'** अर्थात् जिसकी सहायतासे लोग तरते हैं वह तरु हैं।

वि० त्रि०—यहाँ अज्ञान दरिद्र है। अहंता-ममतासे मूढ़ पुरुषको ब्रह्मसुख अगम है। यथा—*'कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह मम मलिन जनेषु।'* वह समझे बैठा है कि ब्रह्मानन्द उसे मिल नहीं सकता। इसलिये वह उसके लिये यत्न भी नहीं करता और न उसके लिये देवी-देवताकी आराधना करता है। प्रभु कल्पवृक्ष हैं, उन्हें पाकर भी परमानन्द नहीं माँगता।

टिप्पणी—४ *'सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही।.......'* (क) राजाने कहा था कि *'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई॥'* इसीपर भगवान् कहते हैं कि *'सकुच'* छोड़कर हमसे माँगो, (तुम दरिद्र नहीं हो, तुम तो 'नृप' हो अतः तुम्हें राजाके समान बड़ी भारी सम्पत्ति माँगनेका अधिकार है, तुम माँग सकते हो) और जो राजाने कहा था कि *'तथा हृदय मम संसय होई'* अर्थात् मिलनेमें सन्देह होता है, उसीपर भगवान् कहते हैं कि *'मोरें नहिं अदेय कछु तोही'*। तात्पर्य कि तुम हमारे जन हो, यथा—*'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥'* (३। ४२। ५) (ख) राजाने

कल्पवृक्षकी उपमा दी थी और कल्पवृक्ष बिना माँगे नहीं देता, यथा—'*जाइ निकट पहिचानि तरु छाँहँ समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच॥*' (२। २६७) इसीसे आप भी कहते हैं कि 'माँगो' (तब हम दें)। राजाने भगवान्‌को अन्तर्यामी कहा, इसीसे भगवान्‌ने कहा कि '**माँगु नृप मोही**' अर्थात् मुझे ही माँग लो, तुम्हारे हृदयमें लालसा है कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँ सो मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा, तुम 'मुझे' माँग लो। ☞ वरदानकी यह मर्यादा है कि माँगा जाय तब दिया जाय, अतएव '**माँगु**' कहा—। '**मोही**' में श्लेषार्थालंकार है। अर्थात् मुझसे माँग लो और मुझको माँग लो।

टिप्पणी—५ '*दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ*' इति। (क) भगवान्‌ने कहा था कि '**मोरें नहिं अदेय कछु तोही**' और '**माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि।**' इसीसे '*दानिसिरोमनि*' कहा। '*बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि*' तथा '*सकुच बिहाइ माँगु*' कहा, इसीसे '*कृपानिधि*' कहते हैं। दानिशिरोमणि और कृपानिधिका भाव कि आप कृपा करके दान देते हैं। (ख) **सति**=समीचीन। (ग) '**चाहौं तुम्हहि समान सुत**'—आप हमारे पुत्र हों यह न कहके भगवान्‌के इतना कहनेपर भी संकोच बना ही रह गया। '**सुगम अगम कहि जात सो नाहीं**' इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया। साक्षात् भगवान्‌को पुत्र होनेके लिये न कहा। संकोचके मारे उनके समान पुत्र होनेका वरदान माँगा। राजा जानते हैं कि भगवान्‌के समान कोई नहीं है। राजाका विचार पूर्व कह आये हैं कि '**नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥**' जब 'अनूप' हैं, उपमाको कोई नहीं है तब समान कहाँ हो सकता है? यथा—'**जेहि समान अतिसय नहिं कोई।**' (३। ६)

नोट—१ संकोच यहाँ भी बना ही रह गया। क्योंकि राजा सोचते हैं कि ब्रह्माण्डनायक, ब्रह्माण्डभरके स्वामी और माता-पिताको पुत्र होनेके लिये कैसे कहें, यह बड़ी धृष्टता होगी, यथा—'**प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई॥ ''''''तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी।**' (१। १५०)

त्रिपाठीजी लिखते हैं—'यह संदेह उठ सकता है कि जिसके सन्तानसे सृष्टि भरी पड़ी है, वह सुत क्यों माँगता है? अतः कहते हैं '*सतिभाउ।*' मुझे प्रभुको देखकर लालसा हुई कि मुझे ऐसा पुत्र हो और आप-सा दूसरा है नहीं। अतः आप-सा पुत्र माँगना आपको पुत्ररूपसे चाहना एक बात है, इसलिये माँगनेमें संकोच था। वास्तविक इच्छा आप-सा पुत्र पानेकी है, चाहे जैसे सम्भव हो।'

नोट—२ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ पुत्र करि प्रभुकी प्राप्तिमें वात्सल्यरसकी परिपूर्णता है। इसीके अन्तर्गत सब रस आ जाते हैं। जैसे कि विवाहमें शृङ्गार, बालकेलिमें हास्य, वनगमनमें करुणा, परशुरामकी वार्तामें भयानक, मखरक्षामें वीर, जन्मसमयमें अद्भुत इत्यादि। फिर इसमें जगत्‌का हितरूपी परस्वार्थ भी है। पुत्र होंगे तब पतोहू भी स्वाभाविक ही प्राप्त होगी।

नोट—३ कुछ महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि मनुमहाराजने 'समान' शब्द बड़ी चतुरतासे कहा है। सभ्यताको लिये हुए हैं। इससे परीक्षा भी हो जायगी कि परात्पर परब्रह्म ये ही हैं या नहीं। यदि प्रभु कहें कि हमारे समान अमुक देवता हैं तो समझ जायँगे कि परतम प्रभु इनसे भी परे कोई और हैं। क्योंकि ब्रह्मके समान कोई दूसरा है ही नहीं, अधिकको तो बात ही क्या ? (विशेष ऊपर टिप्पणीमें आ गया है।) 'समान' कहकर जनाया कि ऐश्वर्य-माधुर्य इत्यादि जैसे आपमें दिव्य गुण हैं वैसे ही जिसमें हों।

नोट—४ एक खर्रेमें पं० रा० कु० जी लिखते हैं कि जैसे मनुजीने परदेसे वर माँगा वैसे ही प्रभुने भी परदेसे ही कहा कि '*आपु सरिस कहँ''''''*' ।

नोट—५ श्रीशारदाप्रसादजी ('रामवन सतना') लिखते हैं कि 'इस उपाख्यानमें प्रभुके वचन '**माँगु नृप मोहीं**' बड़े मार्केके हैं। 'मुझे माँग लो' (जैसा चाहते हो, सुतरूपमें ही हम मिलेंगे)। '**माँगु नृप**' (नृप सम्बोधनद्वारा संकेत किया कि अपने लिये राज्य माँग लो जिसमें अन्य कोई धन-जनादिकी चिन्ता पुत्रसुख अनुभवमें बाधक न हो)।'**माँगु नृप मोहीं**' (मुझे राजाके रूपमें माँग लो)। हमें राजा देखकर तुम्हें तो सुख प्राप्त होगा ही और संसारका बड़ा उपकार होगा। राजा कैसा होना चाहिये इसका सदाके

लिये आदर्श स्थापित हो जायगा। राजा तो न माँग सके परन्तु प्रभुने सभी कुछ दिया।—धन्य हैं प्रभु!! तुम्हारे सिवा कौन कह सकता है—*'माँगु नृप मोही।'* *'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥'*

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥ १॥
आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥ २॥
सतरूपहि बिलोकि कर जोरें। देबि माँगु बरु जो रुचि तोरें॥ ३॥
जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥ ४॥

शब्दार्थ—**अमोले**=जिसका मोल न हो सके; अमूल्य।

अर्थ—राजाकी प्रीति देखकर और उनके अमूल्य वचन सुनकर करुणानिधान प्रभु बोले कि 'ऐसा ही हो॥ १॥ हे राजन्! मैं अपने समान और कहाँ जाकर खोजूँ? मैं ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा'॥ २॥ शतरूपाजीको हाथ जोड़े देख कहा कि हे देवि! तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर माँगो॥ ३॥ (वे बोलीं) हे नाथ! हे कृपाल! जो वर चतुर राजाने माँगा, वही मुझे बहुत ही प्रिय लगा॥ ४॥

नोट—१ *'बचन अमोले।'*—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वचनोंमें अमूल्यता यह है कि पुत्रकी सेवामें निर्हेतु अत्यन्त परिश्रम लालन-पालनका होता है। पुत्र इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता; पितासे उऋण नहीं हो सकता, जैसा प्रभुने भरतजीसे कहा है। यथा—*'निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौ पितु पग पानहीं कराऊँ। होउँ न उरिन पिता दसरथ तें कैसे ताके बचन मेटि पति पावउँ॥'* (गी० २। ७२)

पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि ये प्रेमके वचन हैं और प्रेमका मूल्य नहीं है। अतः वचनको अमूल्य कहा। पुनः भाव कि 'ब्रह्म वेदादिसे पिता-भावके वचन सुनते हैं, पर यह पुत्रभावके वचन अपूर्व आज ही सुनें।' अतः अमूल्य हैं।

टिप्पणी—१ *'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु……'* इति। (क) प्रीति हृदयमें है अतः उसका देखना कहा। प्रीति भीतर है, वचन बाहर हैं; जो मुँहसे निकले अर्थात् भीतर-बाहर दोनों स्वच्छ देखकर प्रसन्न हुए और प्रीति देखकर भगवान्ने **'एवमस्तु'** कहा। प्रेमसे ही भगवान् मिलते हैं। यथा—*'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'* (७। ६२) पुनः *'देखि प्रीति'* का भाव कि जनका धृष्टतारूप दोष न देखा, राजाके हृदयमें अत्यन्त प्रेम है इसीसे हमें अपना पुत्र बनाना चाहते हैं, यह प्रेम देखा। यथा—*'कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥'* प्रीति यह देखी कि हमारे रूपका सदा संयोग चाहते हैं और अमूल्य वचन यह कि *'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत',* भगवान्‌को साक्षात् सुत होनेको न कहकर संकोचवश *'समान सुत'* यह शब्द कहे। पुनः, सुत-प्रीतिकी अवधि (सीमा) है, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की……।'* (वि० २६८) यह प्रीति देखी। [पुनः प्रीति अर्थात् निर्हेतु अमल वात्सल्य रसकी प्रीति। (बै०)] (ख) राजाने *'दानिसिरोमनि'* कहा, इसीसे यहाँ भगवान्ने *'एवमस्तु'* कहा अर्थात् जो माँगते हो वही दिया। राजाने *'कृपानिधि'* सम्बोधन किया इसीसे यहाँ भी *'करुनानिधि'* विशेषण दिया गया। पुनः, भगवान् पुत्ररूपसे अवतरनेको कहते हैं और अवतारका मुख्य हेतु करुणा है, अतः *'करुनानिधि'* विशेषण दिया। राजा *'सतिभाउ'* से बोले इसीसे वचनको 'अमोल' कहा। (ग) ☞*'एवमस्तु'* से समझा जाता कि 'अपने समान' पुत्र देनेको कहा है, इसीसे भगवान् पुनः बोले।

वि० त्रि०—*'चाहौं तुम्हहिं समान सुत'* यह अनमोल वचन हैं जिसकी कोई कीमत ही नहीं, अतः उस वचनके पीछे स्वयं बिक गये, कह दिया 'एवमस्तु'। कोई भुक्ति चाहता है, कोई मुक्ति चाहता है और कोई भक्ति चाहता है। मनुजीने कुछ न चाहा, बालरूपसे रामजीको गोद खिलाने और लालन-पालनका सुअवसर चाहा, ऐसी बात चाहे जिससे जगत्का कल्याण हो, अपने परलोकका भार प्रभुपर छोड़ दिया (**'पुं नाम नरकात् त्रायते पुत्रः।'** नरकसे पिताकी रक्षा करता है, इसीसे पुत्र कहलाता है), जैसी दृढ़ प्रीति

पुत्रमें होती है, वैसी दृढ़ प्रीति चाही, प्रभुसे अपना सम्बन्ध सुरक्षित किया और साथ-ही-साथ अपनी भावी संतान मनुष्यजातिके लिये अमूल्य निधि सुलभ कर गये इत्यादि सभी भाँतिसे मङ्गलमयी कामनाओंसे युक्त वचन था, इसलिये उसे अनमोल कहा।

टिप्पणी—२ (क)*'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई।'* भगवान् यह नहीं कहते कि हमारे सदृश कोई नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेसे अभिमान पाया जाता। आत्मश्लाघारूप दोष आरोपित होता। इसीसे कहते हैं कि अपने सदृश कहाँ जाकर ढूँढ़ूँ। (ख)*'होब मैं आई'* का भाव कि हम गर्भसे नहीं उत्पन्न होंगे, (जीवोंकी तरह रज-वीर्यसे नहीं किन्तु) तुम्हारे यहाँ आकर प्रकट होवेंगे, यथा—*'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'* [इससे जनाया कि अपने समान मैं ही हूँ। (मा० त० वि०)]

नोट—२ शुकदेवलालजी लिखते हैं कि प्रभुके इन वचनोंका अभिप्राय यह है कि 'तुमने ऐसा वर माँगा जो मेरे घरमें है ही नहीं; क्योंकि मेरी दोनों विभूतियोंमें न तो कोई मेरे समान है और न अधिक ही और मेरी विभूतिसे बाह्य कहीं कोई किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, सर्वत्र मेरी ही विभूति है। अतः अपने समान तो मैं कहाँसे ढूँढ़कर लाऊँ। हाँ, मेरे समान मैं ही हूँ; इसलिये मैं आप ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा।' यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य है।

नोट—३ ☞यहाँ बड़े लोगोंकी रीति दिखायी कि वे अपनी बड़ाई अपने मुखसे नहीं करते। प्रभु कहते हैं कि तुमको हमारे समान ही चाहिये तो हम ही तुम्हारे पुत्र होंगे; दूसरेको कहाँ ढूँढ़ें। तुम्हारी इच्छा इतनेसे ही पूर्ण हो जायगी और हम व्यर्थ परिश्रमसे बचेंगे।

श्रीशारदाप्रसादजी—*'माँगु नृप मोही'* मुझीको माँग लो। इतनी कृपा होनेपर भी संकोच न मिटा और वे *'चाहौं तुम्हहिं सुत'* न कह सके और उन्होंने माँगा क्या—*'चाहौं तुम्हहिं समान सुत।'* भगवान्ने *'एवमस्तु'* कह दिया। राजासे माँगनेमें भूल हो गयी तो भगवान्ने देनेमें भूल कर दिखायी (**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**)। भगवान् कहते हैं कि *'आपु सरिस खोजहुँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* मेरे समान तो कोई है ही नहीं, इस कारण मैं ही तुम्हारा पुत्र होऊँगा। यह तो ठीक है। परन्तु जब राजाने *'चाहौं तुम्हहिं समान सुत'* कहा था तब भी तो भगवान्ने *'एवमस्तु'* कहा था। तो क्या अब अपने समान सुत न देंगे? भक्तके प्रेममें जल्दीमें कह दिया था, ऐसा कहके टाल देंगे कि हम ही आ गये तो हमारे समानकी अब क्या आवश्यकता है? नहीं!! प्रभुका वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। वे स्वयं आये और अपने समान भरतलालजीको दिया। भरतलाल सब प्रकार श्रीरामजीके समान हैं यह मानसमें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है। जनकपुरमें सखियाँ आपसमें कहती हैं—*'सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ स्याम गौर सब अंग सोहाए। ते सब कहहिं देखि जे आए॥ कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥ लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख तें सब अंग अनूपा॥'* स्वरूप तो एक समान है ही, जोड़ी भी एक समान है। *'लखन सत्रुसूदन एक रूपा।'* जब भैयाको मनाने भरतजी चित्रकूट जा रहे हैं उस समय रास्तेमें वनवासी स्त्रियाँ क्या कह रही हैं—*'कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। राम लखन सखि होंहि कि नाहीं॥ बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली॥ बेष न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा॥ नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहि भेदा॥'*

तापस और राजस वेष भी जिस समानताको न छिपा सका, उसके विषयमें अधिक कहना क्या?

प्रभुने अपनेको आज *'अतिप्रसन्न' 'महादानि'* कहा है, इसकी सार्थकता किस प्रकार की है यह संक्षेपमें देख लिया जाय। *'माँगु नृप मोही'* आदेश है और *'चाहौं तुम्हहिं समान सुत'* की याचना है और प्रभु देते क्या हैं—(१) *'इच्छा मय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'*—भगवान् स्वयं पुत्र हुए। (२) प्रभुके समान भरतलाल हुए। (३) *'अंसन्ह सहित देह धरि ताता।'*—अंशी आप और अंश तीन भाई अवतरित हुए। (४) *'बसहु जाइ सुरपति रजधानी'*—स्वर्ग प्राप्त हुआ। (५) *'होइहहु अवध भुआल'*—चक्रवर्त्ति राज्य मिला। (६) *'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया॥'*—सीतादेवीका अवतार

न होता तो विवाहादिके अवसरपर जो सुख प्राप्त हुआ वह न मिलता। (७) अबतकके अवतारोंमें जो नहीं हुआ था वह इस अवतारमें करनेका वरदान देते हैं—*'करिहौं चरित भगत सुख दाता।'* ऐसा चरित करेंगे *'जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥'*

इसके उपरान्त राजाने फिर जो वर माँगा था कि *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'* उसके लिये प्रभु संकेत करते हैं—*'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा।'*

राजाने एक वर माँगा था, प्रभुने ढेर लगा दिया—महादानि ही तो ठहरे। राजसी स्वभाव-(अविश्वासी-) के कारण कहीं पानेके विषयमें सन्देह न करने लगें इस कारण *'सत्य सत्य पन सत्य हमारा'* कहकर भरोसा दिलाया।

ब्रह्मचारीजी—इस प्रसङ्गपर और भी कुछ भाव कहे जाते हैं। जैसे *'माँगु नृप मोही'*……' इस भगवान्‌के श्लेषात्मक वाक्यसे भगवान्‌का यह आशय प्रकट होता है 'यदि तुम मुझे ही पुत्ररूपसे चाहते हो तो मुझे ही माँगो! संकोच न करो, इसको भी मैं दे सकता हूँ; तेरे लिये मुझे अदेय कुछ नहीं है'; ऐसे ही मनुजीने भी भगवान्‌को ही पुत्ररूपसे माँगना चाहा अर्थात् *'चाहउँ तुम्हहि सुत'* (तुम्हींको पुत्ररूपसे चाहता हूँ) यह कहना था परन्तु *'चाहउँ तुम्हहि'* इतना जैसे-तैसे कह दिया कि संकोचने दबाया तब 'समान' कहकर वाक्य पूरा किया। तात्पर्य संकोचवश अपने असली आशयको छिपाया वही आगे सूचित किया कि *'प्रभु सन कवन दुराउ'* अर्थात् यद्यपि संकोचवश मैं स्पष्ट कह नहीं सका तथापि आप अन्तर्यामी हैं, आप मेरे आन्तरिक भावको पूरा करेंगे, मेरे कथनपर न जायँगे अर्थात् स्वयं ही पुत्र होंगे। [यहाँपर यह भी एक गूढ़ भाव है कि भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे माँगनेको कहा (*'माँगु नृप मोही'*) परन्तु मनुजीने संकोचवश स्पष्ट शब्दोंसे माँगा नहीं किन्तु अपनी चाह प्रकट किया। इन्हीं सब भावोंके कारण ही *'चाहउँ ……दुराउँ'* इन वचनोंको अमोल कहा है।] भगवान्‌ने जब 'एवमस्तु' कहा, तब मनुजी संशयमें पड़ गये कि '**एवमस्तु**=ऐसा हो' इस भगवान्‌के कथनका क्या तात्पर्य है ? मेरी यह चाह ऐसी ही बनी रहेगी वा पूरी होगी, यदि पूरी होगी तो जो मेरे मनमें है कि भगवान् ही स्वयं पुत्र हों वह पूरा होगा वा जो मुखसे निकल गया (भगवान्‌के समान पुत्र हों) वह। भगवान्‌ने मनुजीके इन आन्तरिक संशयात्मक कष्टोंको जानकर दयापूर्वक अपने *'एवमस्तु'* वाक्यका अर्थ स्पष्ट कर दिया। इसी भावसे यहाँ *'करुनानिधि'* नाम दिया। *'बोले'* यह क्रिया देहली-दीपकके ढंगपर बीचमें दिया; अर्थात् प्रथम *'एवमस्तु'* बोले और जब मनुजी संशयमें पड़ गये तब दयासे *'आपु सरिस'*……' इत्यादि स्पष्ट रूपसे कह दिया।'

'इस प्रसंगमें मनुजी और भगवान्‌के विषयमें जैसा कहा गया वैसा सब व्यवहारमें चरितार्थ करके दिखाया गया है। जैसे, (भगवान् अपने पुत्र हों यह) 'बड़ी लालसा' उरमें है ऐसा कहा; तो उस लालसाको अन्ततक हृदयमें ही छिपा रखा, 'जिस लालसाको अपनी कृपणतासे *'अगम'* समझकर माँगनेमें संकोच होता है' ऐसा कहा; उसपर भगवान्‌के *'सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही'* ऐसा कहनेपर भी स्पष्ट खोलकर नहीं माँगा गया, संकोच बना ही रहा इत्यादि। भगवान्‌के विषयमें भी—*'तुम्हहि देत सुगम', 'बिबुध तरु', 'अंतरजामी', 'पुरवहु मोर मनोरथ', 'नहिं अदेय कछु', 'दानिसिरोमनि, 'दया करुना निधि'* इत्यादि (कुछ मनुजीके कथनमें, कुछ स्वयं भगवान्‌के वचनमें तो कुछ कविके कहनेमें) उल्लेख आया है, सो पूर्णतया सब अंशोंसे अनुभवमें आया है, अन्तर्यामी होनेसे तो मनुजीके एक (मुख्य, अद्वितीय) उरकी बड़ी लालसाको जान गये और संकोचसे स्पष्टतया माँगना न बननेपर भी उनके मनोरथको पूरा करनेका स्पष्ट शब्दोंमें वचन दे दिया, और *'माँगु नृप मोही'* पर जो उन्होंने *'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत'* कहा था, इसके लिये आगे *'अंसन्ह सहित देह धरि ताता'* कहेंगे। इस प्रकार भीतरका मनोरथ और बाहरका कथन दोनोंको पूर्ण करके अपना दानियोंमें शिरोमणि (श्रेष्ठ) होना, तथा *'देत सुगम', 'नहिं अदेय कछु', 'कृपानिधि'* आदि सब सिद्ध कर दिखाया। *'चाहउँ तुम्हहि समान सुत'* अर्थात् तुमको और (तुम्हारे) समान सुतको चाहता हूँ; ऐसा भी अर्थ हो सकता है। सम्भवतः इसीसे इस भावको भी पूर्ण करनेका भगवान्‌ने विचार किया इत्यादि।' (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)

टिप्पणी—३ (क) '***सतरूपहि बिलोकि कर जोरें***'। राजा हाथ जोड़े खड़े हैं—'***सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी॥***', इसीसे रानी भी हाथ जोड़े खड़ी हैं। पुनः, '**अञ्जली परमा मुद्रा क्षिप्रं *देवप्रसादिनी*।**' हाथ जोड़नेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं। (ख) ☞शतरूपाजीसे वर माँगनेको इसलिये कहा कि प्रथम बार राजाके वर माँगनेमें रानी भी सम्मिलित हुई थीं, यथा—'***देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥ दंपति बचन परम प्रिय लागे।***' इस बार वर माँगनेमें रानी उनके साथ सम्मिलित नहीं हुईं। जैसा (*'चाहौं तुम्हहिं समान सुत'* के *'चाहौं'* एकवचन क्रियासे तथा) आगेके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि '*प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत हित तुम्हहि सुहाई॥*' इसलिये एवं इससे कि भगवान् दानिशिरोमणि हैं, उन्होंने रानीसे भी वर माँगनेको कहा। (ग) '***बिलोकि कर जोरें***' अर्थात् हाथ जोड़े हुए देखकर वर माँगनेको कहा और राजाके सम्बन्धमें कहा था कि प्रीति देखकर और अमूल्य वचन सुनकर वर माँगनेको कहा था। इसका तात्पर्य यही है कि इस बार रानी चुपचाप खड़ी रहीं, कुछ भी न बोली थीं। (घ) '***देबि मागु बरु जो रुचि तोरें।***' पुत्र होंगे, यह तो राजाहीके वरसे निश्चित हो गया। '***जो रुचि तोरें***' का भाव कि उन्होंने अपनी रुचिका वरदान माँगा, तुम अपनी रुचिका माँगो, रुचि हर एककी अपनी-अपनी होती है।

नोट—४ 'पूर्वरूप देखनेके सम्बन्धमें पृथक् वर माँगना नहीं कहा गया, यहाँ पृथक् वर माँगनेको क्यों कहा?' उत्तर यह देते हैं कि 'रूप-दर्शनमें दोनोंका सम्मत एक था, यथा—'***दंपति बचन परम प्रिय लागे***' और यहाँ मनु महाराजने '***समान सुत***' माँगा सो रामजीने समान ही होनेको कहा। महारानीको इसे भारी ढीठता समझ संशय हुआ, इसीसे वे हाथ जोड़े खड़ी रहीं। उनके हृदयकी रुचि जानकर पृथक् वर माँगनेको कहा गया।'

प्रथम '*दंपति*' ने एक ही वर माँगा था और यहाँ केवल राजाने वर माँगा है जैसा '***सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही***' से स्पष्ट है। रानीने कुछ नहीं माँगा था। अतएव राजाको वर देकर उनसे वर माँगनेको कहा गया (प्र० सं०)। (पं० रामकुमारजी)

टिप्पणी—४ '***जो बरु नाथ चतुर नृप मागा। सोइ कृपाल*****……**' इति। (क) 'चतुर' का भाव कि पुत्र होनेका वर माँगकर आपके रूप और लीलाका निरन्तर आनन्द प्राप्त किया। पुनः चतुर कहा क्योंकि वर माँगनेमें बड़ी चतुरता यह की कि यह नहीं कहा कि आप हमारे यहाँ सदा बने रहें क्योंकि इस कथनसे भक्तिकी न्यूनता होती इससे यह माँगा कि आप हमारे पुत्र हों। पुत्र होनेसे सदा संयोग और प्रेम दोनों बने रह गये [बाबा रामदासजी कहते हैं कि 'चतुर' का भाव यह है कि जिसे शिवादिक मनसे देखते हैं उसको उन्होंने मेरे नेत्रोंके आगे प्रत्यक्ष खड़ा कर दिया और इतना ही नहीं किन्तु आगे जन्मभरके लिये माँग लिया कि जिससे जन्मभर देखते ही रहें, यथा—'***जीवन मरन सुनाम जैसें दसरथ राय को। जियत खेलाए राम राम बिरहँ तनु परिहरेउ।***' (दो० २२१) बैजनाथजीके मतानुसार '***चतुर***' इससे कहा कि पुत्ररूपसे प्रभुकी प्राप्तिमें वात्सल्यरसकी परिपूर्णता है। इसीके भीतर और सब रस आ जाते हैं। जैसे बालकेलिमें, हास्यविवाहमें शृङ्गार इत्यादि। श्रीजानकीशरणका मत है कि 'चतुर' शब्दमें व्यंग्य है कि सेवा तो दूर रही, स्वयं सेवा करायेंगे। वि० त्रि० लिखते हैं कि राजाने ऐसा वर माँगा जो शतरूपाजीको भी अति प्रिय है, क्योंकि इससे दोनोंका कल्याण होगा और दूसरे जन्ममें भी यह सम्बन्ध (दाम्पत्य) बना रहेगा, अतः 'चतुर' कहा।

मानस-मयङ्ककार लिखते हैं कि 'यहाँ 'चतुर' शब्द बड़ा गूढ़ है। क्योंकि राजाने कहा है कि '***सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहिं बरु मूढ़ कहइ किन कोऊ॥***' इससे 'चतुर' शब्दसे यह ध्वनि निकलती है कि राजाने मूढ़तावश ऐसा वर माँगा है। यदि यह ध्वनि न होती तो राजा अपनेको मूढ़ न कहते। पुनः, इसी कारण शतरूपाने वात्सल्यरसमय भक्ति वर माँगा। दोनोंके वरमें भेद यह है

कि रानीने तो रामचन्द्रकी ओरसे वात्सल्य भाव माँगा और राजाने अपनी ओरसे पुत्र समझकर वात्सल्य भाव माँगा।' (प्र० सं०)]

(ख) ***'मोहि अति प्रिय लागा'*** क्योंकि राजाको तो (निरन्तर दर्शन और लीलाका आनन्द न हो सकेगा उनके आनन्दमें) अन्तर भी पड़ेगा, पर मुझे तो रातोंदिन आपके संयोगका आनन्द मिलेगा (क्योंकि प्रथम तो माताहीको पुत्रका सुख मिलता है तब कहीं पिताको। लालन-पालनका सुख तो मुझको ही अधिक मिलेगा। मेरे तो नित्य गोदमें ही रहियेगा)। (ग) ***'कृपाल'*** का भाव कि राजापर जो आपकी कृपा हुई वह मुझे अति प्रिय लगी। यह रानीके पातिव्रत्यकी शोभा है। (घ) ***'चतुर'*** और ***'सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा'*** कहकर राजाके वचनोंको आदर दिया; क्योंकि आगे उनके वचनमें दोष दिखाती हैं।

नोट—५ इन वचनोंसे रानीकी चतुराई झलकती है। प्रथम तो उन्होंने पतिके वचनको प्रमाणस्वरूप किया और फिर स्वयं वर माँग लिया। ऐसा न कहतीं तो कौन जानता है, राजाके सैकड़ों रानियाँ होती हैं वे किसके पुत्र कहलाते, क्योंकि राजाने तो अकेले अपनेको ही कहा था, यथा—***'चाहौं तुम्हहिं......'*** ***'मोहि अति प्रिय लागा'*** कहकर सूचित किया कि आप हमारे पुत्र कहलायें, आप मेरे ही पुत्र हों, अन्य किसी रानीके नहीं।

प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि* भगतहित तुम्हहिं सोहाई॥५॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥६॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान† पुनि सोई॥७॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥८॥

दो०—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निजचरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु॥१५०॥

शब्दार्थ—**सुठि**=अत्यन्त। **रहनि**=आचरण, चाल-ढाल, व्यवहार, रीतिभाँति।=लगन, प्रीति, यथा—***'जो पै रहनि राम सो नाहीं'*** (इति विनये)

अर्थ—परंतु, हे प्रभो! अत्यन्त ढिठाई हो रही है यद्यपि भक्तोंके प्रेमसे आपको (यह भी) भाती है॥५॥ आप ब्रह्मादिके भी पिता (पैदा करनेवाले), जगत्-मात्रके स्वामी, ब्रह्म और सबके हृदयकी जाननेवाले हैं॥६॥ ऐसा समझनेपर मनमें सन्देह होता है। फिर भी जो प्रभुने कहा वह प्रमाण है (असत्य नहीं हो सकता)॥७॥ हे नाथ! जो आपके निज भक्त हैं, वे जो सुख पाते और जो गति प्राप्त करते हैं॥८॥ हे प्रभो! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणोंका अनुराग, वही विवेक और वही रहनि, हमें कृपा करके दीजिये॥१५०॥

नोट—१ ***'परंतु'*** शब्दसे महारानीने इस वरके माँगनेमें अपनी अरुचि प्रकट की। भाव यह है कि 'मैं न भी माँगू वा स्वीकार करूँ तो अब क्या हो सकता है, आप तो वचन दे चुके, आप अवश्य पुत्र होंगे। इसलिये अब वह वर न लेना व्यर्थ होगा।' (श्रीजानकीशरण)।

टिप्पणी—१ ***'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।......'*** इति। (क) सेवकमें ढिठाई (धृष्टता) होना दोष है, यथा—***'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी॥'*** (२९। १) ***'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई।'*** (२। २९८) (ख) ***'जदपि भगत हित तुम्हहिं सोहाई'*** । ***'भगत हित'*** का भाव कि जिस प्रकार

---

* १६६१, १७०४ और १७६२ में 'भगति' पाठ है। रा० प० मा० त० वि०, पं० में भी 'भगति' पाठ है। १७२१, छ०, को० रा० में 'भगत' पाठ है। भगत-हित=भक्तोंके लिये, भक्तोंके प्रेमसे।=भक्तहितकारी। भगति-हित=भक्तिके प्रेमसे, भक्तिके लिये, भक्तिवश। 'भगत' उत्तम जान पड़ता है।

† 'प्रमान' पाठ कुछ छपी पुस्तकोंमें मिलता है।

भक्तका हित हो वही आप करते हैं *'तुम्हहिं सोहाई'* अर्थात् आपको सुहाती है क्योंकि आप भक्तहितकारी हैं, औरोंको नहीं सुहाती। (इस कथनमें तात्पर्य 'दोषकी निवृत्ति' है, उसके लिये क्षमाकी मानो यह प्रार्थना है।) भाव कि भगवान्‌से अपने दोष अपने मुखसे कह देनेसे वे दोष क्षमा कर दिये जाते हैं। यथा—*'सीतापति रघुनाथ सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'* (दोहावली) **'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः। त्राहि मां पापिनं घोरं सर्वपापहरो हरे॥'** पुनः भाव कि आप सेवककी धृष्टताको स्नेह और सेवा मान लेते हैं, यथा—*'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥'* (२। २९०) और ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं। (नोट—क्या *'ढिठाई'* है सो आगे कहती हैं)। (श्रीडींगरजीका मत है कि पतिके साथ पूर्णतः सहयोग कर वर-प्राप्तिमें कुछ उनसे आगे बढ़ जाना यह मर्यादाका उल्लङ्घन *'ढिठाई'* है)।

टिप्पणी—२ *'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी।……'* इति। ☞यह *'ढिठाई'* का स्वरूप दिखाती हैं। (क) ब्रह्मादिके पिता हो, यथा—*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* (१। ४। ६) जगत्‌के स्वामी हो। भाव कि जो जगत्‌का पिता है उसको अपना पुत्र बनाना और जो जगत्‌का स्वामी है उसे पुत्ररूपसे अपना दास बनाना, यह बड़ी भारी धृष्टता है। (ख) *'ब्रह्म सकल उर अंतरजामी'* का भाव कि ब्रह्म बृहत् है, उसको छोटा करना और जो सबके हृदयके अन्दर है उसे एकदेशीय करना तथा जो सबके हृदयकी जानता है उसे अज्ञानी बनाना (अर्थात् माधुर्यमें उस ब्रह्मको अज्ञान धारण करना पड़ता है,) ऐसा करनेकी उससे प्रार्थना करना यह सब धृष्टता है।

टिप्पणी—३ *'अस समुझत मन संसय होई।'* इति। अर्थात् ब्रह्मादिके पिता और जगत्‌के स्वामीको हम अपना पुत्र बनाती हैं, ऐसा समझते ही हृदयमें संशय उत्पन्न हो जाता है। कौसल्यारूपमें भी ऐसा समझकर भयभीत हुई हैं, यथा—*'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगत पिता मैं सुत करि जाना॥'* (२०२। ८) भगवान्‌के पुत्र होने-(बनने-) में रानीको संशय उत्पन्न हुआ तब राजाका वर रुक गया। क्योंकि बिना रानीके अङ्गीकार किये रामजी पुत्र कैसे होंगे? नोट—यह कोई बात नहीं है। राजाओंके अनेक रानियाँ होती हैं। भगवान्‌का वचन तो असत्य हो नहीं सकता। वे न जाने कौन ऐसा दूसरा सुकृती पैदा करते। वस्तुतः यह महारानीजीकी वचनचातुरी है, इसीसे वे कहती हैं कि जो आपने कहा कि *'नृप तव तनय होब मैं आई'* यह वचन प्रमाण हैं (असत्य नहीं हो सकते) अर्थात् आप आकर पुत्र हों। ☞रानीने प्रथम पतिके वचनका मान रखा—*'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥'* और अब *'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई।'* इन वचनोंसे प्रभुके वचनोंका मान रखा।

टिप्पणी—४ *'जे निज भगत नाथ तव अहहीं।……'* इति। (क) *'निज भगत'* का भाव कि धर्म, कर्म, देव और तीर्थसेवी भी आपके सेवक कहलाते हैं, सो वे सेवक नहीं, किन्तु जो आपके 'निज भक्त' हैं वे। जैसे मनुजीने कहा कि जो स्वरूप शिवजीके मनमें एवं जो भुशुण्डिजीके मनमें बसता है वह स्वरूप हम देखें, वैसे ही रानी कहती हैं कि जो सुख इत्यादि 'निज भक्त' को मिलता है वह हमें मिले। तात्पर्य कि भगवान्‌के दिव्य गुण और रूप यथार्थ रूपमें सन्तोंको ही प्राप्त हैं इसीसे सन्तोंके-से सुख, गति आदि माँगे। इस प्रकार दोनोंने सन्तोंका ही मत माँगकर सन्तमतको सर्वोपरि दिखाया। 'निजभक्त' कहकर जनाया कि जो इस मूर्तिके अनुरागी हैं, जिनको यह छोड़ कुछ भाता ही नहीं ऐसे भक्त। (१४५। ५) भी देखिये।

टिप्पणी—५ *'सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति……'* इति। (क) ☞*'सोइ सुख'*, यथा—*'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥'* (७। ४६) *तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम जानहु जिय जो जेहि केही॥' 'सोइ गति'*, यथा—*'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं।'* (२। १३०। ५) (बैजनाथजीका मत है कि *'सोइ सुख'*=जो सुख जीवितावस्थामें पाते हैं और *'सोइ गति'*= जो गति वे अन्तकालमें पाते हैं)। *'सोइ भगति'*, यथा—*'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥'* (७। ८४) *'सोइ निज चरन सनेहु'*,

यथा—*'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥'* (१४८। १) *'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* (१७। ४) *'सोइ बिबेक',* यथा—*'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥'* (१। ६) *'अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥', 'सोइ रहनि'* यथा—*'कबहुँक हौं एहि रहनि रहोंगो। श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाउ गहोंगो॥ जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहोंगो। परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहोंगो॥ परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगो। बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहोंगो॥ परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहोंगो। तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि अबिरल हरिभक्ति लहोंगो॥'* (विनय० १७२) *'जो पै रहनि राम सों नाहीं ·······'* (वि० १७५) ☞भाव यह है कि आप हमारे पुत्र तो हों, पर हमारे हृदयमें सेवक-सेव्य-भाव बना रहे। पुत्रस्नेहमें पड़कर हमारा विवेक जाने न पावे, हमारा रहन-सहन आपके निज भक्तोंका-सा बना रहे। (ख) *'मोहि कृपा करि देहु'* का भाव कि जैसे राजाको आपने माधुर्यका आनन्द दिया, वैसे ही मुझपर कृपा करके मुझे ऐश्वर्यका आनन्द दीजिये। (ग) ☞भक्ति और चरणस्नेह तो एक ही बात है। दोनोंमें कोई फर्क (बीच, अन्तर) नहीं है। पर यहाँ भक्ति और चरणस्नेह दोनों अलग-अलग माँगे हैं। इसमें भाव यह है कि चरणस्नेह ही माँगतीं तो उसमें नवधाका ग्रहण न होता और नवधा भक्ति ही केवल माँगतीं तो उसमें चरणोंमें स्नेहका ग्रहण न होता, पादसेवन मात्रका ग्रहण होता। अतएव दोनों माँगे। (सम्भवतः पं० रामकुमारजीका यही पाठ है।)

'हमहिं कृपा करि देहु' इति। मनुजीने ब्रह्मगिरा सुनकर जब वर माँगा तब कहा कि *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* अर्थात् दोनोंको प्रणत जनाते हुए दोनोंको कृपा करके दर्शन देनेकी प्रार्थना की। दूसरी बार *'चाहौं तुम्हहिं समान सुत'* यह कहा, तब भगवान्‌ने शतरूपाजीसे वर माँगनेको कहा। उन्होंने कहा—*'जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सो कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥'* शतरूपाजीने विचारा कि भगवान्‌के पुत्र होनेपर भी यदि भक्ति न मिली तो विशेष लाभ क्या? *'जनम गएउ हरि भगति बिनु'* यही सोचकर तो घर छोड़कर वनमें आये थे। और बिना विमल ज्ञानके भक्ति हृदयमें दृढ़ नहीं होती, यथा—*'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'* यह बड़ी भूल हुई कि राजाने ज्ञानसहित भक्ति साथ-साथ नहीं माँगी। अतः शतरूपाजीने दोनोंके लिये सोच-विचारकर ऐसा माँगा कि कुछ बाकी रह ही न गया। दोनोंके लिये वर माँगा, इसीसे *'हमहिं देहु'* कहा। राजाने जो भूल की थी उसे महारानीने इस प्रकार सुधारनेका प्रयत्न किया।

नोट—२ *'कृपा करि देहु'* का भाव कि मैं इतने पदार्थयुक्त यह वर पानेकी पात्री नहीं हूँ, आप अपनी ओरसे कृपा करके मुझे दें। भक्ति कृपासाध्य है अतः कृपा करके देनेको कहती हैं।

नोट—३ रानीने अपनी ढिठाई कहते हुए और प्रभुके वचनको प्रमाण भी करते हुए वर माँगा और वह भी कैसा? इसीपर प्रभु रीझेंगे। यहाँ वरके प्रसंगमें *'सोइ'* छः बार दोहेमें आया है। इसमें 'पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार' है। इससे भाव अधिक रुचिकर हो गया है। पुनः, प्रत्येक वर-(सुख, गति, भक्ति इत्यादि-) के साथ यह शब्द देकर ताकीद भी जना रहा है अर्थात् और कोई सुख, गति आदि मैं नहीं चाहती, आपके निजभक्तका ही सुख, गति, भक्ति इत्यादि चाहती हूँ, ब्रह्मज्ञानी आदिका नहीं। अतएव 'वीप्सा' भी है। पुनः, रानीने जो कुछ माँगा सबके साथ 'सोइ' विशेषण दिया; क्योंकि यदि किसी एकमें भी—'सोइ' न होता तो वह संतमतसे बाहर हो जाता।

नोट—४ कुछ महानुभाव कहते हैं कि यहाँ छः पदार्थ माँगे; क्योंकि शरणागति छः प्रकारकी है। अथवा, षड्विकारके दूर करनेके लिये छः पदार्थ माँगे। अथवा, मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये छः माँगे।

नोट—५ 'निज भक्त' के लक्षण कहे वे सब सुतीक्ष्णजीमें देख लीजिये जो प्रभुके 'निज' भक्त हैं, यथा—*'देखि दसा निज जन मन भाए।'* (३। १०। १६) सुख, यथा—*'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥'* (३। १०। १७) गति, यथा—*'प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥'* (३। १०। ३)*'''''जाके गति न आन की॥'* (७) भक्ति, यथा—*'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई'॥* चरण-स्नेह, यथा—*'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़ भागी॥'* (३। १०। २१) विवेक, यथा—*'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहँसे दोउ भाई॥'* (३। १२। ४) रहनि, यथा—*'मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥'* (३। १०। २) निज भगत, यथा—*'देखि दसा निज जन मन भाए॥'* (३। १०। १६)

६—जो कुछ शतरूपाजीने माँगा वह सब उनको कौसल्यातनमें प्राप्त भी हुआ है। (१५१। १—३) में देखिये।

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर* रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना॥ १॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥ २॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥ ३॥

शब्दार्थ—**रचना**=गढ़न, बनावट, जिसमें विशेष चमत्कार वा युक्ति हो ऐसा वाक्य।

अर्थ—कोमल, गूढ़, सुन्दर और श्रेष्ठ वाक्यरचनाको सुनकर दयासागर (प्रभु) कोमल वचन बोले॥ १॥ तुम्हारे मनमें जो कुछ इच्छा है वह सब मैंने दी, इसमें संदेह नहीं॥ २॥ हे माता! मेरी कृपासे तुम्हारा अलौकिक ज्ञान कभी न मिटेगा॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर रचना''''''* ' इति। (क) वचनोंमें तीन गुण बताये। एक तो कोमल हैं, दूसरे इनमें गम्भीर आशय भरा है, तीसरे इन वचनोंकी रचना सुन्दर है। राजाके वचनमें दोष भी दिखाती हैं और उनका मान भी रखती हैं यह 'गूढ़ता' है। 'नाथ', 'कृपाल', 'भगतहित' विशेषण देकर प्रार्थना की यह मृदुता है और जितनी भी वचनकी रचना है वह सब सुन्दर है। अथवा, *'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥'* यह 'मृदु' है,*'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहि सोहाई॥ तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥ अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई॥'* यह 'गूढ़' है, और*'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥ '* इत्यादि 'रुचिर' हैं। (ख) ☞राजाको जब वर दिया तब*'करुनानिधि'* विशेषण दिया था—*'एवमस्तु करुनानिधि बोले'* इसी तरह जब रानीको वर दिया तब *'कृपासिंधु बोले'* ऐसा कहा। इस प्रकार दोनोंपर भगवान्‌की एक-सी कृपा दिखायी।

वि० त्रि०—वचन-रचना विनीत होनेसे मृदु, गम्भीरार्थक होनेसे गूढ़ और श्रवण-सुखद होनेसे रुचिर थी। गम्भीरार्थक इसलिये कहा कि पुत्ररूपसे प्रभुकी प्राप्तिसे जिन छः बातोंमें कमी पड़नेका भय है उनको माँगती हैं।

श्रीबैजनाथजी—'भक्तहित आपको देना सुहाता है, पर माँगनेमें ढिठाई होती है ये मृदु हैं। गूढ़ आशय यह है कि रानीने विचारा कि राजाने जो वरदान माँगा वह कर्मकाण्ड देशमें है, मायाकृत विघ्नोंसे रक्षा करनेकी तो कोई बात माँगी नहीं सो माँग लेनी चाहिये। भक्तिके अनेक अङ्ग बटोरकर एकवचनमें कह देना भक्तियुक्त (बर)रचना है।'

नोट—१ *'कृपासिंधु बोले'* इति। महारानीजीने कहा था कि *'हमहि कृपा करि देहु',* अतएव यहाँ *'कृपासिंधु बोले'* कहकर 'कृपा करके' बोलना जनाया।

---

*बर—१६६१, छ०, को० रा०, श्रीनंगेपरमहंसजी। बच—१७०४, १७२१, १७६२। भक्तियुक्त—वै०। १६६१ में 'च' पर हरताल देकर 'र' बनाया है। बच=बचन।

टिप्पणी—२ *'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं।''''''।'* (क) *'देबि माँगु बरु जो रुचि तोरें'* उपक्रम है और *'जो कछु रुचि तुम्हरे ''''''* यह उपसंहार है। *'मन माहीं'* से यह भी जनाया कि जो तुम नहीं कह पायी हो पर तुम्हारे मनमें है वा जो भाव तुम्हारे मनमें है, पर तुम ठीकसे नहीं कह पायी हो वह सब भी मैं देता हूँ। (ख) बहुत चीजें माँगी, मिलनेमें संशय होता है, इसीसे कहते हैं कि *'मैं सो दीन्ह सब'* इसमें *'संसय नाहीं'*। जैसे राजाने संशय किया था, यथा—*'तथा हृदय मम संसय होई'*; वैसे ही रानीके हृदयमें संशय न उत्पन्न हो कि यह सब गुण हमें कैसे मिलेंगे, (मिलेंगे वा नहीं), यह विचारकर भगवान्‌ने प्रथम ही कह दिया कि *'संसय नाहीं'*। 'संशय नहीं' कहकर संशयकी उत्पत्ति रोक दी। [राजाने संदेह किया था, इससे भगवान्‌को उन्हें पहले समझाना पड़ा था कि संकोच न करो, हम सब कुछ दे सकते हैं, भक्तके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। इतनेपर भी राजाका संकोच पूर्णरूपसे न मिटा था। इसीलिये यहाँ प्रथम ही संशय मिटा देते हैं जिसमें फिर इन्हें भी समझाना न पड़े]

टिप्पणी—३ *'मातु बिबेक अलौकिक तोरें।''''''* इति। भाव कि रानीने विवेककी बात कही थी कि *'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥ अस समुझत मन संसय होई।'*, इस बातपर भगवान् प्रसन्न हो गये और उनकी अनुग्रह इनपर हुई। इसीसे कहते हैं कि *'मातु बिबेक ''''''अनुग्रह मोरें।'* अथवा, रानीने विवेकसे वर माँगा, इसीसे विवेक सदा बना रहनेका आशीर्वाद दिया।

[भगवान् जानते हैं कि रामावतारके पिताजीका मरण तो तापस-शापके कारण रामवनगमन विरह-निमित्त ही होता है। यदि उनको रामरहस्यका ज्ञान रहेगा तो मरण असम्भव होगा। अतः उनको ज्ञान और ऐश्वर्यज्ञानयुक्त भक्ति देना सम्भव नहीं, इसीसे भगवान् वर भी बड़ी युक्तिसे देते हैं। कहते हैं *'जो कछु रुचि''''''मैं सो दीन्ह।'* 'आपने जो माँगा वह मैंने दिया वा एवमस्तु' नहीं कहा। *'तुम्हरे मन माहीं'* का भाव कि आप दोनोंके मनकी रुचि भिन्न-भिन्न है अतः जो रुचि जिसके मनमें है वही मैंने दिया। पर इससे यह निश्चित न हुआ कि रानीको क्या दिया। अतः रानीके लिये स्पष्ट कह देते हैं कि *'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* *'तोरें'* एकवचन माताके लिये है, 'तुम्हारें' दोनोंके लिये है।

गोस्वामीजीकी सावधानता देखिये। *'मातु'* कहकर प्रथम शतरूपाको ही सम्बोधित किया। राजाको वर देते समय 'पितु' (वा तात) नहीं कहा; किंतु नृप कहा, यथा—*'नृप तव तनय होब मैं आई॥'* कारण कि पुत्रजन्मका ज्ञान और आनन्द प्रथम माताको होता है तब पिताको। रामजन्मकालमें भी ऐसा हुआ है। इस व्यावहारिक क्रमका भंग मानसमें कहीं नहीं हुआ है। उदाहरण—वन्दना-प्रकरणमें प्रथम कौसल्यामाताकी वंदना करके कहा—*'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।'* हनुमान्‌जीको प्रथम माता श्रीजानकीजीने सुत कहा, तब रघुनाथजीने। सुं० (१६। ६), (३२। ७) देखो। मर्यादापुरुषोत्तमके चरित्रमें लोक-वेद-शास्त्रकी मर्यादाका भंग अन्य रामायणोंमें तो हुआ है, पर मानसमें ऐसा कहीं नहीं हुआ। (शृङ्खलाके लिये दो० १५० देखिये)]

नोट—२ *'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* इति। (क) *'माता'*—रानीने सन्देह किया कि जो ब्रह्मादिके भी पिता और जगत्‌भरके स्वामी हैं वे पुत्र कैसे होंगे, इसके निवारणार्थ *'मातु'* कहकर सम्बोधन किया। भाव यह कि अवतार तो समयपर ही होगा, परंतु तुमको हमने माता अभीसे मान लिया, सन्देह न करो। (वै०) (ख) रानीने छः पदार्थ माँगे, उनमेंसे 'विवेक' भी एक है। 'विवेक' के लिये कहा कि यह कभी न मिटेगा। इससे यह न समझें कि और सब मिट जायँगे। रानीके विवेकपर प्रभु प्रसन्न हुए क्योंकि ये वर उन्होंने विवेकसे माँगे हैं, उनका सब वचन विवेकमय है, इसीपर प्रभुने प्रसन्न होकर यह कहा कि हम तुमको अपनी ओरसे 'अलौकिक' विवेक देते हैं जो हमारी कृपासे न मिटेगा। 'अलौकिकता' अपनी ओरसे कृपा करके दी। *'न मिटिहि अनुग्रह मोरें'* में यह भी ध्वनि है कि जब हमारी (लीलाहेतु) इच्छा होगी तब मिट भी जायगा। यदि यह न कहते तो विरोध पड़ जाता, क्योंकि उनका ज्ञान मिट भी गया है यथा—*'माता पुनि बोली सो मति डोली।'* (१। १९२) *'अब*

जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥' (२०२) अर्थात् काल-कर्मादि इस विवेकको न मिटा सकेंगे। जब मिटेगा तब हमारी कृपा और इच्छासे ही मिटेगा। (ग) अलौकिक विवेक यह कि हमारे ऐश्वर्यको कभी न भूलोगी। यही कारण है कि समय-समयपर ऐश्वर्य दिखाकर उस विवेकको प्रभुने स्थिर रखा।

मा० त० वि०—कार कहते हैं कि माता कौसल्याका विवेक बराबर अखण्ड नहीं पाया जाता जैसा *'सो मति डोली'* और *'मति भ्रम मोर'''''' ।'* (२०१। ७) इत्यादिसे स्पष्ट है। अतएव यहाँ भाव है कि जिस समय मैं अनुग्रह करूँगा उस समयसे तुम्हारा अलौकिक विवेक बना रहेगा। इसीसे प्रभुने *'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।'''''' ।'* (२०१) उस अनुग्रहके बादसे अखण्ड विवेक पाया जाता है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'लौकिक ज्ञान वह है जो शम-दमादि साधनोंद्वारा लोग प्राप्त करते हैं। इसमें विषय बाधक होता है—*'मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ।'* (३। ३८) जरा चूके कि विषयोंने आ दबाया। जीव अल्पज्ञ है, उसे एकरस ज्ञान नहीं रह सकता, यथा—*'ज्ञान अखंड एक सीताबर॥''''''जौं सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥'* (७। ७८) इसीसे प्रभु कहते हैं कि हमारे अनुग्रहसे तुमको अलौकिक ज्ञान बना रहेगा। अलौकिक अर्थात् एकरस ज्ञान।

वि० त्रि०—लौकिक विवेक शास्त्रजन्यज्ञानविषयक है। पर अलौकिककी बात दूसरी है। महाराज दशरथने लौकिक विवेकसे काम लिया। यथा—*'तुलसी जानेउ दसरथहि धरमु न सत्य समान।'* *'रामु तजे जेहि लागि बिनु रामु परिहरे प्रान॥'* (दो० २१९) परंतु माता कौसल्याका अलौकिक विवेक सुनिये।—*'वारौं सत्यबचन श्रुतिसंमत जाते हौ बिछुरत चरन तुम्हारे॥ बिनु प्रयास सब साधनको फल प्रभु पायो सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे॥ रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल तें चिंतामनि डारे। मुनि लोचन चकोर ससि राघव सिव जीवन धन सोउ न बिचारे॥'* (गी० अ० २)

नोट—३ श्रीशतरूपाजीने यह वर माँगा कि—*'जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥ सोइ सुख१ सोइ गति२ सोइ भगति३ सोइ निज चरन सनेहु४। सोइ बिबेक५ सोइ रहनि६ प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥'* (१५०) श्रीकौसल्यारूपमें ये सब उनको प्राप्त हुईं, यथा—

(१) *सोइ सुख—'भरीं प्रमोद मातु सब सोहीं॥ पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी॥ जनम रंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा॥ मूक बदन जनु सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई॥'* (दो०)—*'एहि सुख ते सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु।'* (३५०) *'दिये दान बिप्रन्ह बिपुल पूजि गनेस पुरारि। प्रमुदित परम दरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि॥'* (३४५) *'लछिमन अरु सीतासहित प्रभुहि बिलोकति मातु। परमानंद मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु॥'* (उ० ७)

(२) *सोइ गति—'जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी॥'* (२००। २) *'निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥'* (२०३। ७) *मोद प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ॥ राम दरस हित अति अनुरागीं। ''''''चलीं मुदित परिछन करन पुलक प्रफुल्लित गात।'* (३४६) *'कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥'* (७। ६)

(३) *सोइ भगति—'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥ ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥'* (१९८)

(४) *सोइ निज चरन सनेहु—'लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥ प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान। सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥'* (२००) *'कौसल्यादि राम महतारी। प्रेम बिबस तन दसा बिसारी॥'* (३४३। ८) *'तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा॥'* (२०२। ५)।

(५) *सोइ बिबेक—'माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।' 'उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना''''''* तक (१९२ छं०) *'बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि। अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥'* (२०२) *'कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥''''''ईस रजाइ सीस सबही*

कें। उत्पति थिति लय बिषहु अमी कें॥ देखि मोह बस सोचिअ बादी। बिधिप्रपंच अस अचल अनादी॥ भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी॥' (२। २८२) पुत्रमें परमेश्वर भाव रखना यह अलौकिक विवेक है।

(६) *सोइ रहनि*— कौसल्याजीका सारा चरित निजभक्तकी रहनी है। उदाहरण—*'प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान। सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥'* (२००)

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी॥ ४॥
सुत बिषैक* तव पद रति होऊ। मोहि बड़† मूढ़ कहै किन कोऊ॥ ५॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति‡ तुम्हहिं अधीना॥ ६॥

शब्दार्थ—**अवर**=और भी। **बिषैक**=विषयक=विषयका।=सम्बन्धी। **फनि** (सं० फणि)=सर्प। **मिति**=सीमा, नाप, तोल।

अर्थ—चरणोंमें प्रणाम करके मनु महाराज फिर बोले—हे प्रभो! मेरी एक और भी प्रार्थना है॥ ४॥ आपके चरणोंमें मेरी प्रीति पुत्र-सम्बन्धी हो, चाहे मुझे कोई बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे ?॥ ५॥ जैसे बिना मणिके सर्प और बिना जलके मछली, वैसे ही मेरे जीवनकी सीमा आपके अधीन रहे॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी।……'* इति। दो बार वर माँगा और दोनों बार वंदन किया, यथा—*'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात'* और *'परेउ दंड इव गहि पद पानी॥ धरि धीरज बोले मृदु बानी॥'* अब फिर वर माँगते हैं, जैसा आगेके *'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ'* से स्पष्ट है, इसीसे पुनः चरणोंकी वन्दना की। (ख) *'सुत बिषैक तव पद रति होऊ'* इति। राजाने पुत्र होनेका वर माँगा था; इसीसे अब वे ऐश्वर्य नहीं माँगते। (*'सुत बिषैक'* अर्थात् आपके चरणोंमें हमारा प्रेम हो पर इस तरहका हो जैसे पिताका पुत्रपर, आपमें पुत्रभावसे प्रेम हो, स्वामीभावसे नहीं।) (ग) *'मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ'* इति। (इस भावमें) मूढ़ कहे जानेकी योग्यता है अर्थात् यह बात ऐसी है कि राजाको लोग अवश्य मूढ़ कहेंगे कि ईश्वरको पाकर भी इनको ज्ञान नहीं है, ये भगवान्‌को पुत्र मानते हैं। यथा—*'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना॥'* (२०२। ७) ईश्वरको जो न जाने वह मूढ़ है, यथा *'ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥'* (७। ७३) और जो ईश्वरको पाकर भी उसे न जाने उसमें ईश्वरभाव न माने वह 'बड़ा मूढ़' है। (घ) *'किन कोऊ'* का भाव कि 'राजा बड़ा मूढ़' है यह कहे जानेका हमें किंचित् भय वा संशय नहीं है। आपके चरणोंमें स्नेह हो, हम बड़े मूढ़ भले ही कहे जायँ। भाव कि बड़े ज्ञानी हुए और चरणोंमें अनुरक्ति न हुई तो अच्छा नहीं है और मूढ़ कहाते रहें पर आपके चरणोंमें प्रेम रहे यह अच्छा है, यथा—*'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥'* (२। १८६) [वाल्मीकीयमें श्रीविश्वामित्रजीने श्रीदशरथ महाराजको ऐसा कह ही डाला है जैसा उनके '**न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव॥ १३॥ अहं ते प्रति जानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ। अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्॥ १४॥ वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः।**' (वाल्मी० १। १९) अर्थात् वे दोनों राक्षस रामचन्द्रके हाथसे अवश्य मारे जायँगे। सत्यपराक्रमी रामको मैं जानता हूँ और वसिष्ठ आदि ये तपस्वी-तेजस्वी सब ऋषि जानते हैं—इस ध्वनिसे सूचित हुआ कि तुम अज्ञानान्धकारमें पड़े हो, तुम नहीं जानते कि ये तो ब्रह्माण्डमात्रके माता-पिता-स्वामी हैं।]

प० प० प्र०—मनुजीने भगवान्‌के वचनोंका मर्म जान लिया, अतः वे अपने मनकी रुचि प्रकट करके कह देते हैं। *'राम सदा सेवक रुचि राखी'*—इसमें अपवाद केवल एक हुआ है और वह है अङ्गदके सम्बन्धमें, पर वहाँ नैतिक कर्तव्य-पालनमें वैसा ही करना पड़ा। (७। १८-१९) में देखिये।

---

* बिषैक—१६६१, १७०४, रा० प०। विषइक—पाठान्तर। † बरु—पाठान्तर। ‡ मिति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०। तिमि—को० रा०।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि जब राजाने देखा कि रानीने पुत्र तो पाया ही और साथ ही अनन्य भक्ति भी, ईश्वरभावका स्नेह, निज भक्तोंकी रीति, रहनी और अलौकिक विवेक इत्यादि सोना और सुगन्ध भी, मीठा और वह भी कठौता भर कि वह सब विवेक आदि सदा एकरस बने रहें—तब उन्होंने विचार किया कि यद्यपि प्रभु हमको पुत्ररूपसे प्राप्त हुए तथापि जीवकी अल्पज्ञतासे कहीं ऐसा न हो कि किसी समय हमारा प्रेम इनमें कम हो जाय, इसलिये फिर वर माँगते हैं। *'बड़ मूढ़ कहै'* का भाव कि चाहे कोई कहे कि ये बड़े अज्ञानी हैं कि ईश्वरमें पुत्रभाव रखते हैं, मुझे इस कथनसे किंचित् भी संकोच न हो।

नोट—२ ☞यहाँ यह उपदेश मिलता है कि प्रभुमें किसी-न-किसी भावसे किसी प्रकार भी लग जाना चाहिये। उस भावमें, उस प्रयत्नमें, लोकमें निन्दा भी हो तो भी उसपर कान न देकर अपनी भावनामें, अपनी निष्ठामें दृढ़ रहे। (करु०)

मा० म०—कारका मत है कि 'राजाने सोचा कि रानीने व्यङ्गसे हमें 'चतुर' कहा। इनको हमारा वर (केवल माधुर्यरसका) अच्छा न लगा, इसीसे इन्होंने हमसे पृथक् दूसरा वर माँगा। 'मूढ़' तो हम बन ही चुके, अब हम उसीमें दृढ़ रहेंगे। कटाक्ष तो हो ही चुका, अब हम अपनी धारणासे क्यों हटें ? शतरूपाजी चाहती हैं कि पुत्र होते हुए भी हम उन्हें जगतत्पिता समझें और राजाने माँगा कि पुत्र ही समझते रहें'—(स्नेहलताजी)।

श्रीगङ्गाप्रताप डींगरजी लिखते हैं कि मनु महाराजको पहले भगवान्‌के साक्षात् दर्शनकी अभिलाषा हुई। साक्षात् दर्शन प्राप्त होनेपर वे रूपमाधुरीपर मुग्ध हो गये और उनके हृदयमें यह लालसा उत्पन्न हुई कि बस ऐसे दर्शनोंका सौभाग्य सदा बना रहे। इस विचारसे उन्होंने प्रभुके सदृश पुत्र माँगा। मुग्धताके कारण पुत्रका वर माँगते समय उनके हृदयमें कोई और विचार न था। महारानीजी यह सब देख-सुन रही थीं परन्तु वे इतनेमें सावधान हो चुकी थीं। उन्होंने विचार किया कि महाराजने वर तो यथार्थ माँगा परन्तु केवल पुत्र होनेका माँगा, भक्ति माँगनेको भूल गये। अतः जब भगवान्‌ने उनसे वर माँगनेको कहा तब उन्होंने महाराजके वचनोंका समर्थन किया और भगवान्‌के वचनोंके अनुसार कि जब वे ही पुत्ररूपसे अवतरित होनेको हैं, उन्होंने भक्तोंकी-सी रहनी, सहनी इत्यादि भी माँगी। तब महाराजको होश हुआ कि वर माँगनेमें हमसे थोड़ी भूल हो गयी, अतः उन्होंने अपनेको मूढ़ कहकर प्रभुमें सत्य प्रेम होनेका वर माँगा, जिसमें पुनरागमन न हो। इसीसे कविने वन्दना करते हुए कहा है *'बंदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।''''''* यहाँ किसीके वचनोंमें न कोई चातुरी है और न व्यङ्ग ही; भगवान्‌के सामने ये सब कैसे रह सकते हैं?

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि ''स्मरण रहे कि पुत्र-भाव रखते हुए दशरथजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अटल प्रीति रखी जो लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे अनुचित-सी देख पड़ती है। परन्तु उन्होंने उसे पूर्णरूपसे निबाहा जिसका उदाहरण गोस्वामीजीने यथायोग्य दर्शाया है कि *'मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिए मुएहु मीतकी आस॥'*

दशरथजीका ठीक ऐसा ही हाल हुआ उन्होंने रामचन्द्रजीके वनवासी होते ही प्राण त्याग दिये, फिर भी मुक्त न हो पुत्र-भाव रखते हुए ही स्वर्गमें निवास किये रहे। निदान रावण-वधके पश्चात् फिर आकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकर मुक्त हुए। इस प्रकारसे उन्होंने प्रीति निबाही क्योंकि परमात्मा ही पुत्ररूपसे अवतरे थे।''

[☞पुत्र-भाव रहते हुए भी भगवान्‌के चरणोंमें उनका प्रेम रहा यह बात भी मानसमें चरितार्थ हुई देख पड़ती है। यथा—*'मोरे गृह आवा प्रभु सोई।'* (१९३। ५) *'सुमिरि राम गुर आयेसु पाई। चले महीपति संख बजाई॥'* (३०२। ३) *'अस कहि गे बिश्राम गृह राम चरन चितु लाइ॥'* (३५५) उनका प्रेम श्रीरामजीमें ऐसा था कि शरीर त्याग करनेपर स्वर्गमें सब प्रकार इन्द्रद्वारा सम्मानित होनेपर भी वे श्रीराम

बिना सुखी न थे, जैसा वाल्मी० ६। १२२। १३ में उनके वचनसे स्पष्ट है। यथा—'**न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥**' (१३ वाल्मी० ६। १२२) अर्थात् हे राम! मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि तुम्हारे वियोगसे युक्त मुझको स्वर्गमें रहना जिसे देवर्षि बड़ी भारी वस्तु समझते हैं, तुम्हारे सहवासके समान सुखदायी नहीं मालूम होता।]

नोट—३ '*मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना*' इति। (क) राजाने चरणोंमें प्रेम माँगा। किस प्रकारका प्रेम चरणोंमें हो यह अब कहते हैं। जैसे मणिके बिना सर्प और जैसे जलके बिना मछली नहीं रहती वैसे ही मेरा जीवन आपके अधीन रहे अर्थात् आपके बिना मैं न जिऊँ। (ख) भगवान्‌की इच्छासे मनुजीने दो दृष्टान्त दिये। फणि-मणिके दृष्टान्तसे भगवान्‌के बिना व्याकुल रहें, मृत्यु न हो, यथा—'*मनि लिये फनि जियै, ब्याकुल बिहाल रे॥*' (वि० ६७) यह दृष्टान्त जनकपुर जानेमें चरितार्थ हुआ। विश्वामित्रके साथ भगवान्‌के जानेपर राजा व्याकुल रहे पर मरे नहीं। मरे हुएके समान रहे, यथा—'*सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥*' (३०८। ४) दूसरा दृष्टान्त '*जल बिनु मीन*' का है। जल बिना मछली जीती नहीं रह सकती। यह दृष्टान्त वनयात्रामें चरितार्थ हुआ। (ग) प्रथम वियोग विश्वामित्रके संग जानेमें हुआ; इसीसे प्रथम फणि-मणिका दृष्टान्त दिया। दूसरा वियोग पीछे वनयात्रा होनेपर हुआ; इसीसे जल-मीनका दृष्टान्त पीछे कहा। इस तरह दोनों दृष्टान्त क्रमसे कहे गये। यह वर प्रभुकी इच्छासे माँगा गया, क्योंकि लीलामें राजाको दो बार वियोग होना है। (पं० रामकुमारजी) (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि '*मनि बिनु फनि……मीना*' का भाव यह है कि जैसे मणि सर्पके भीतर और जल मछलीके बाहर रहता है तथा मेरी प्रीति भीतर-बाहर दोनों रहे। वा, जैसे सर्प स्व-इच्छित मणिका वियोग सह सकता है, वैसे मैं स्व-इच्छित सह सकूँ और जैसे मीन जलके बिछुड़ते ही मर जाती है, वैसे ही वियोग होनेपर मैं प्राण त्याग सकूँ।' (ङ) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि मछली अपनी इच्छासे जलके बाहर नहीं होती, वैसे ही राजा भी रामरूपजलसे अपनी इच्छासे अलग न होंगे, कैकेयी मल्लाहिन बाहर निकालेगी।

अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥ ७॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥ ८॥
सो०—तहँ करि भोग बिसाल* तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥ १५१॥

अर्थ—ऐसा वर माँगकर (मनुजी प्रभुके) चरण पकड़कर रह गये। करुणानिधान भगवान्‌ने 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा॥ ७॥ (फिर भगवान् बोले कि) अब तुम मेरी आज्ञा मानकर इन्द्रकी राजधानी-(अमरावती-) में जाकर निवास करो॥ ८॥ हे तात! वहाँ बहुत सुख भोग करके कुछ काल बीतनेपर फिर तुम अवधके राजा होगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा॥ १५१॥

टिप्पणी—१ '*अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ*' इति। ☞इस समय तीन बार पदवन्दन दिखाया है। तीन बार वन्दनामें क्रमसे वचन, मन और तन (कर्म) दिखाया है '*बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी*' यह वचन है, '*सुत बिषैक तव पद रति होऊ*' यह मन है और '*अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ*' यह तन है। तात्पर्य कि राजाकी भगवान्‌के चरणोंमें मन-वचन-कर्म तीनोंसे प्रीति है। यह तीन बार पदवन्दनका भाव है। ☞भगवान्‌के तीनों बार वर देनेमें वक्ताओंने भगवान्‌को कृपानिधान वा करुणानिधान विशेषण दिया है, यथा—'*भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥*' (यह प्रथम बारकी प्रार्थनापर कृपा करके दर्शनरूपी वर दिया), '*एवमस्तु करुनानिधि बोले*' (यह दूसरी बार जब पुत्र होनेका वर माँगा तब करुणा करके वर दिया) और '*एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ*' (यह अन्तिम बार सुतविषयक

* पाठान्तर—बिलास।

प्रेम माँगनेपर भी करुणा करके वर दिया)। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की अपने दास (मनुजी) पर आदिसे अन्ततक एकरस कृपा बनी हुई है। [जो माँगा वह सब देनेकी इच्छा है अत: 'एवमस्तु' कहा। शतरूपाजीने दोनोंके लिये माँगा और वह सब देना अनुचित था, अत: वहाँ 'एवमस्तु' नहीं कहा। तुलसीदासजीकी काव्यकला शब्दलाघवमें अर्थ गाम्भीर्ययुक्त है।' (प० प० प्र०)]

(चरण पकड़े रह जानेमें भाव यह है कि यह वर लेकर ही मानेंगे। वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ *'अब तुम्ह मम अनुसासन मानी।'''''''* ' इति। (क) *'अनुसासन मानी'* का भाव कि राजाके मनमें इन्द्रलोकमें बसनेकी वासना नहीं है। कैसे मालूम हुआ कि नहीं है? इस तरह कि प्रथम ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनों आये, अपना-अपना लोक देते रहे पर ये ऐसे वैराग्यवान् कि (इन्होंने उस सुखको तुच्छ मानकर) उसकी इच्छा न की। *'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृपरानी॥'* (भगवान् इस बातको जानते हैं) इसीसे भगवान्‌ने कहा कि हमारी आज्ञा मानकर इन्द्रलोकमें जाकर रहो। *'राम रजाइ सीस सब ही के।'* स्वामीकी आज्ञा है; अत: उसे मान लिया। (ख) इन्द्रलोकमें निवास करानेका भाव कि राजाने ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोकको लेना स्वीकार नहीं किया था (इससे वहाँ भेजना उचित न था। वहाँ जानेको कहते तो इनको संकोच होता।) अतएव वहाँ वास करनेको न कहा। पुन: भाव कि भगवान्‌ने प्रसन्न होकर इनको दर्शन दिया, पुत्ररूपसे इनके यहाँ अवतार लेकर सुतविषयक सुख देनेका वरदान दिया। पर इतना देनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ, क्योंकि राजाने भगवान्‌को छोड़कर और कुछ भी पदार्थ न माँगा—*'निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपने॥'* (२। २९९) (अहा! क्या सुन्दर अनुपम स्वभाव सरकारका है!! बलिहारी, बलिहारी!!)। इसीसे इन्द्रलोकमें निवास करनेको कहा। इन्द्रलोकमें भोग-विलास बहुत है। भगवान्‌की आज्ञासे सुरपति-राजधानीमें बसनेसे सुरपति आदि सभी देवता इनकी सेवा करेंगे इनको तपका फल भी कुछ-न-कुछ भोग कराना भगवान्‌को मंजूर है। [किसीका मत यह भी है कि यहाँ भगवान्‌ने वेदमर्यादाकी रक्षा भी की है। तपका फल इन्द्रलोकका भोग-विलास है, उसे भोग करनेको वहाँ भेजा। भोग-विलासमें इन्द्रकी उपमा दी जाती है, यथा—*'भोग पुरंदर।'* (७। २४) *'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।'* (६। १०)। *'मघवा से महीप बिषय सुख साने।'* (क० ७। ४६), *'भोगेन मघवानिव'* इत्यादि।]

टिप्पणी—३ *'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल'''''''* ' इति। (क) ☞इस वचनसे पाया जाता है कि विशाल भोग-विलास करनेके लिये ही इन्द्रलोकमें वास कराया गया। (ख) वर देनेके साथ-साथ अभीसे भगवान्‌ने रानी-राजामें माता-पिता-भाव मान लिया। इसीसे उनको माता-पिता कहते हैं, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें'* (शतरूपाजीसे) और *'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।'* (मनुमहाराजसे) ['मातु' कहकर रानीका संदेह दूर किया था और अब *'तात'* पिता-वाचक पद देकर राजाको अपनी सत्य प्रतिज्ञापर विश्वास दिलाया] (ग) *'कछु काल'* का भाव कि तपका फल तो कई कल्पोंतक इन्द्रलोकका राज्य प्राप्त होनेपर नहीं चुक सकता, कल्पोंतक इन्द्रपद प्राप्ति भी इस तपके आगे कुछ नहीं है। अतएव उसे बहुत कम मानकर *'कछु काल'* कहा। पुन:, राजाको प्रभुका वियोग असह्य है, वे भगवान्‌का वियोग बहुत दिन न सह सकेंगे (और स्वर्गमें न जाने कबतक रहना पड़े यह समझकर राजाको संकोच होगा), इसीसे *'कछु काल'* कहकर राजाकी खातिरी की, उनको संतोष दिया। क्योंकि देवशरीर धारणकर इन्द्रलोकमें बसनेसे यह निश्चय है कि वहाँ देवताओंकी आयुपर्यन्त (वा तपफलभोगपर्यन्त) निवास करना पड़ता है तब तो भगवान्‌की इस आज्ञासे कि *'बसहु जाइ सुरपति रजधानी',* निश्चय होता है कि बहुत कालतक वियोग रहेगा, अतएव उस संदेहकी निवृत्तिके लिये, उस संकोचको मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं कि *'गएँ कछु काल पुनि'* अर्थात् तुम्हें देवताओंकी पूर्णायुतक वहाँ न रहना पड़ेगा, कुछ ही काल ठहरना होगा। फिर तुम अवधभुआल होगे। (पुन:, *'कछु काल'* का भाव कि थोड़े ही समयमें विशाल भोग भोग लोगे)।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रथम कल्पमें बहत्तरवीं चतुर्युगीमें दो लाख तेरह हजार एक सौ बयालीस वर्ष जब सत्ययुगके बीते, उस समय प्रभुने मनुको स्वर्ग जानेकी आज्ञा दी। *'कछु काल'* अर्थात् चौबीस लाख छब्बीस हजार आठ सौ अट्ठावन वर्ष बीतनेपर। अर्थात् जब त्रेतायुगके तीन लाख चौरासी हजार वर्ष बाकी रहेंगे तब तुम राजा होगे।' (१४२। १—४) भी देखिये।

त्रिपाठीजीका मत है पाँच मन्वन्तरतक अमरावतीमें बसनेको कहा। इन्द्र और देवतातक पाँच बार बदलेंगे पर ये वहीं रहेंगे। सातवें (वैवस्वत) मन्वन्तरमें अवधके राजा होंगे, तब अवतार होगा।

टिप्पणी—४ (क) *'होइहहु अवध भुआल'* इति। इन्द्रलोक देनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ तब अवधभुआल होनेका वर दिया कि जहाँ-(अवध-)में इन्द्रलोकसे अनन्तगुण अधिक ऐश्वर्य है। यथा—*'अवधराजु सुरराज सिहाहीं। दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं॥'* (२। ३२४) (ख) *'तब मैं होब तुम्हार सुत।'* भाव कि तुम्हारे इस शरीरके तथा देवशरीरके पुत्र न होंगे, जब अवधभुआल होंगे तब तुम्हारे पुत्र होंगे। भगवान्‌से कालका करार नहीं कराया था, पुत्र होनेका करार (एकरार; वचन) था। इसीसे भगवान्‌ने कालका कोई एकरार नहीं किया; पुत्र होनेका करार किया। अपना 'करार' समझकर राजाको संतोष रहेगा। (ग) ☞काल और देश दोनों इस दोहेमें बताये। *'गएँ कछु काल पुनि होइहहु अवध भुआल'*, जब अवधभुआल होंगे तब यह 'काल' बताया और 'अवध' यह देश बताया, जहाँ अवतार लेकर पुत्र होंगे। [पूर्व इनकी राजधानी बिठूर (ब्रह्मावर्त) कही जाती है। पूर्व प्रमाण दिया गया है।]

नोट—☞यहाँ यह दिखाते हैं कि प्रभु जिसपर कृपा करते हैं उसको फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख देते ही जाते हैं, क्योंकि—*'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।'*

नोट—२ जब राज्य-वैभवका भोग साठ हजार वर्ष कर लेंगे तब पुत्र होंगे। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मनुजीने अट्ठाईस हजार वर्ष तप किया। प्रभुने चौबीस हजार वर्ष तपके फलमें चौबीस लाख वर्ष स्वर्ग भोग दिया और चार हजार वर्षके तपके फलमें साठ हजार वर्षभर अवधराज्यका सुखभोग दिया और अट्ठाईस वर्षतक पुत्र होकर वात्सल्यसुख दिया।'—पर इसमें मतभेद है।

प० प० प्र०-बालकाण्ड वन्दना-प्रकरणमें एक बार *'दसरथ राउ'* कहकर वन्दन किया, फिर *'अवध भुआल'* कहकर। यथा—*'दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी॥ करौं प्रनाम करम मन बानी॥'* (१। १६। ६-७) *'बंदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद॥'* (१। १६) यहाँ *'होइहहु अवध भुआल'* शब्द देकर सूचित करते हैं कि दोहा १६ में जो वन्दना है वह मनु-दशरथकी है और जो *'दसरथ राउ'* कहकर वन्दना की वह कश्यप (अदिति) दशरथकी है।

इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥ १॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥ २॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥ ३॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥ ४॥

शब्दार्थ—'**इच्छामय**'=इच्छारूप, इच्छानुसार, इच्छासे, संकल्पमात्रसे। **सँवारे**=रचकर, बनाये हुए। '**निकेत**'= घर, अर्थात् सूतिकागृह, सौर, जच्चाखाना।

अर्थ—अपनी इच्छासे नररूप बनाये हुए तुम्हारे घरमें प्रकट होऊँगा॥ १॥ हे तात! अंशोंसहित देह धारणकर मैं भक्तोंको सुख देनेवाले चरित्र करूँगा॥ २॥ जिन्हें बड़भागी मनुष्य आदरपूर्वक सुनकर ममता-मद छोड़कर संसारसे तर जायँगे॥ ३॥ आदिशक्ति जिसने जगत्‌को उत्पन्न किया वह ये मेरी 'माया' भी अवतार लेंगी॥ ४॥

नोट—१ *'इच्छामय नर बेष सँवारे.........'* इति। (क) नरका अर्थ है 'पाञ्चभौतिक मायामय शरीरवाला'

यथा—'**स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः।**' इति (अमरकोष) इसीसे कहते हैं कि मेरा नर-शरीर मायामय पाञ्चभौतिक नहीं होगा, किंतु 'इच्छामय' होगा। जैसे चीनीके अनेक खिलौने मनुष्य, पशु, पक्षी, फूल, फल इत्यादि बनते हैं, वे देखनेमात्रसे मनुष्य, पशु आदि हैं, पर उनमें मनुष्य, पशु इत्यादिके तत्त्व नहीं हैं, वे तो भीतर-बाहर चीनी ही हैं; वैसे ही हमारा रूप देखनेमात्रको तो नराकार होगा पर भीतर-बाहर शुद्ध ईश्वरतत्त्व ही है, उसमें देही-देह-विभाग नहीं है, हमारा शरीर चिदानन्दमय ही होगा। मैं अपनी इच्छासे नरतन धारण करूँगा, जीवोंकी तरह कर्मका परिणाम वह शरीर नहीं होगा। (वै०) (ख) संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि '**आनन्दो द्विविधः प्रोक्तः मूर्त्तश्चामूर्त्त एव च। अमूर्तस्याश्रयो मूर्तः परमात्मा नराकृतिः॥**' (अर्थात् आनन्द दो प्रकारका है, एक रूपवाला दूसरा रूपरहित। रूपरहितका आश्रय रूपवाले नराकृति परमात्मा हैं)। यही *'इच्छामय नर बेष'* है। अथवा, भाव यह है कि नर वेष तो धारण करूँगा परंतु जब जैसा जिसे इच्छा होगी (वैसा), वा जिसकी इच्छाको जिस रूपसे पूर्ण करना आवश्यक होगा तन्मय नरवेषका (उसे) अनुभव होगा। इसीसे नारदको क्षीरशायी दीख पड़े, परशुरामको रमाकान्त, देवताओंको उभय भाँति, कौसल्याको अनुपम रूप, सतीको राजपुत्र और शिवजीको सच्चिदानन्द ब्रह्म, इत्यादि मानसके प्रसङ्गोंमें पाया जाता है। अथवा, राजाके मनमें यह आशा हो कि संसारी जीवोंकी तरह यदि ये हमारे प्रेमके कारण रज-वीर्यसे पुत्र हुए तो यह अद्भुत लावण्य कैसे बना रहेगा, इससे प्रभुने कहा कि हमारा 'इच्छामय नरबेष' होगा। (ग) *'इच्छामय नरबेष',* यथा—*'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।'* (१९२)। (घ) रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'जो शान्तिकी प्राप्ति करावे उसे 'नर' कहते हैं—'**नरति शान्तिं प्रापयतीति नरः।**' जितने ऐसे ईश्वरकोटिके नर हैं उनका इच्छामय वेष सँवारनेवाले हम तुम्हारे गृहमें प्रकट होंगे।' (ङ) मयंककारका मत है कि 'प्रभुने मनुको अमरावतीमें वास करनेकी आज्ञा दी तब इनके मनको क्षोभ हुआ कि इतने दीर्घकालतक यह स्वरूप क्योंकर एकरस रहेगा। अतएव प्रभुने कहा कि मैं इच्छामय सुन्दर शरीर धारण कर तुम्हारे यहाँ प्रकट होऊँगा। इससे राजाको ज्ञान हो गया कि यह नित्य स्वरूप है और मोह दूर हो गया।'

नोट—२ 'नरवेष और देही-देह-विभागरहित शुद्ध चिदानन्दमय शरीर तो अब भी है तब *'सँवारे'* से क्या तात्पर्य है?' इस शंकाका समाधान यह है कि मनुष्य-शरीरमें बाल, कुमार, पौगण्ड, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं। हर्ष-विषाद आदि होते हैं। इत्यादि। वैसे ही मेरे चिदानन्दमय शरीरमें लोगोंको ये सब भाव दरसाये जायँगे। तुम्हारे यहाँ प्रकट होनेपर मैं इन अवस्थाओंकी लीलाएँ भी करूँगा और अपनी इच्छासे नित्यकिशोर लीला भी जो चाहूँगा करूँगा (करु०, वै०)।

नोट—३ *'अंसन्ह सहित देह धरि ताता।'* इति। (क) भाव यह कि इनके बिना हमारा चरित्र नहीं बनता। पुनः, यह सूचित किया कि अंशोंके भी तात (पिता) तुम्हीं होगे। (ख) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'परमेश्वर अगणित अंशोंसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हो कार्य सिद्ध किया करते हैं। उनमें यहाँ तीन विशेष अंशोंकी सूचना है; सो यों कि—(१) जिस अंशसे पृथ्वीको धारण करते हैं सो लक्ष्मणजीके रूपमें, (२) वह अंश जिससे पृथ्वीका भरण-पोषण करते हैं जो भरतजीके रूपमें और (३) जिस अंशसे शत्रुओंका नाश करते हैं वह विशेषकर शत्रुघ्नके रूपमें, जिन्होंने लवणासुरका वध किया था।' (वस्तुतः यह मत पाँड़ेजीका है)

(ग) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'अंश दो प्रकारके होते हैं। १-महत्, २-विभूति। जैसे गङ्गा, सरयू आदिकी धारासे स्रोत फूटकर पृथक् निकल चलें पर स्रोत मिला रहे—यह महत् अंश है; और गङ्गा-सरयूका जल घट आदिमें अलग निकाल लिया जाय यह विभूति अंश है। भरतादिक षोडश पार्षद महत् अंश हैं और रामरूप ही हैं।'

(घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि एकन्नी, दोअन्नी, चवन्नी, अठन्नी आदि रुपयाके अंश हैं, इनसे रुपया खण्डित नहीं होता। वैसे ही ईश्वरतत्त्व थोड़ा बट जानेसे खण्डित नहीं होता। अंशावतार होनेसे भी पूर्णावतार

खण्डित नहीं होता। व्यापक ब्रह्म चाँदीमात्र है, पूर्णावतार ऊँचा सिक्का है, दुअन्नी आदि अंशावतार हैं। जीव भूषणादि दागी हैं।

(ङ) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि भाव यह है कि 'जो-जो भक्त जिस स्वरूपके उपासक होंगे उन्हींके सुखदायक चरित्र करूँगा। वह अंशोंसहित देह धरकर करूँगा। तात्पर्य कि कभी रमा-वैकुण्ठनाथ होकर, कभी क्षीरशायी और कभी श्वेतद्वीपवासी इत्यादि होकर। अथवा, भक्तसुखदाता अंशोंके साथ यह देह धारण किये चरित करूँगा। अतः, '**वैकुण्ठाधीशस्तु भरतः क्षीराब्धीशश्च लक्ष्मणः। शत्रुघ्नश्च स्वयं भूमा रामसेवार्थमागतः॥**' के अनुसार वैकुण्ठाधीशादि भरतादि होंगे। भाव यह कि तुमने तो केवल हमको ही पुत्ररूपसे माँगा है पर तुम्हारे आनन्दके लिये मेरे अनादि लीलाके परिकर भी चरितार्थ देह धारण करेंगे। अथवा, भाव कि पुत्र होनेकी बात ही क्या, मैं अपने चरित भी दिखलाऊँगा।' इत्यादि। [अंशोंके सम्बन्धमें (१८७। २) देखिये।]

नोट—४ '*जेहि सुनि सादर नर बड़भागी*.........' इति। भाव यह कि जो अभागे हैं वे न सुनेंगे, यथा—'*एहि सर निकट न जाहिं अभागा।*' (३८। २) '*सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥*' मद-ममता जन्म-मरणके कारण हैं अतएव इनका त्याग होना कहकर भवसागरके पार होना कहा—(पं० रामकुमारजी)।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—परब्रह्म परमात्माने किस प्रयोजनसे अपने अंशोंके सहित अवतार लिया? श्रीरघुनाथजीने स्वयं तो मर्यादा-पुरुषोत्तमका अवतार लेकर अपने भागवतधर्म अर्थात् ईश्वरीय दिव्य गुण-सौशील्य, वात्सल्य, कारुण्य, क्षमा, शरण्यता, दया, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वदर्शित्व, सर्वनियामकत्व आदिकी सुलभताके साथ-ही-साथ लोकधर्म समस्त मर्यादाका भी आदर्श उदाहरण चरितार्थ कर दिखाया, जिसका पूरा-पूरा निर्वाह किसी जीवकोटिके सामर्थ्यसे सम्भव ही नहीं है। परन्तु विशेष धर्म अर्थात् परमार्थ-सेवनके विशेष आदर्श स्वरूप श्रीप्रभुके तीनों अंशावतार श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न ही हुए हैं। जो भगवत्-भागवत-सेवाधर्म जीवमात्रके परम कल्याणार्थ अति आवश्यकीय धर्म था, उसके साथ-साथ यथासम्भव लोकधर्मका निर्वाह गौणरूपमें होता ही रहा है। (इसके आगे कल्याण ११-७ पृष्ठ १०९८ से ११०५ तक चारों श्रीविग्रहोंके आदर्श चरितोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन करानेके बाद वे लिखते हैं कि) निष्कर्ष यह है कि परम प्रभुने अपने तीनों अंशोंको साथ-साथ अवतरित करके भगवत्-भक्ति और भागवत-भक्तिकी चर्याको अपनी लोकमर्यादाके समान ही आदर्श बना दिया। उचित ही था; क्योंकि लोक-परलोक दोनोंका शिक्षण स्वयं भगवान्‌के अवतारसे ही तो होना था—

अतएव जैसा कि सब भ्राताओंमें छोटे श्रीशत्रुघ्नजीने भागवतसेवाकी निष्ठाको ही आदर्श बनाया; जीवमात्रके लिये प्रथम सीढ़ी संतसेवा ही है। श्रीरामचरितमानसमें सत्संगके प्रभावके सम्बन्धमें और भी देखिये—'*मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥*' अस्तु सच्चे हृदयसे अनन्य होकर संतोंकी सेवा करनेसे भगवान् संतुष्ट और प्रसन्न होकर अवश्य ही अपने दुर्लभ प्रेमको प्रदान करेंगे। उस भगवद्दत्त प्रेमसे भगवान्‌के प्राप्त होनेतक सदैव श्रीभरतजीकी चर्याका अनुसरण करना चाहिये। हृदयमें प्रभुजीका ध्यान करके अहर्निश उनके नामका अनुसंधान करते हुए उनकी प्राप्तिके लिये अनुरागसे करुणाक्रन्दन करना चाहिये। जब श्रीप्रभुकी प्राप्ति हो जाय—साक्षात्कार हो जाय, तब श्रीलक्ष्मणजीकी चर्याका अनुकरण करनेमें तत्पर हो जाना चाहिये। इससे निजत्व और सहजत्वकी प्राप्ति होगी और जीव कृतार्थ हो जायगा। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये श्रीमर्यादापुरुषोत्तम सरकारने अंशोंके सहित अवतार लिया, जिसकी बड़ी आवश्यकता थी।

नोट—५ ☞ स्मरण रहे कि '*इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट*......' से स्पष्ट सिद्ध है कि मनु-शतरूपाके आगे जो स्वरूप है, जो मूर्ति है, वह 'लीला तन' नहीं है, वरंच असली अगुण अखण्ड ब्रह्म ही है, लीलातन वा नरवेष श्रीअवधमें अवतरनेपर धारण करेंगे। '*अंसन्ह सहित देह धरि ताता*' भी दलील है कि इस समय ब्रह्म अपने असली देहसे सम्मुख खड़ा हुआ है और कहता है कि मैं तुम्हारे लिये नर-शरीर धारण करूँगा।

''आदि सक्ति ······। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।''

१-श्रीसीताजीके लिये *'माया'* शब्द यहाँ ठीक उसी प्रकार प्रयुक्त किया गया है जैसे प्रणवरूप होनेसे वेदान्तसूत्रमें ब्रह्मको 'प्रकृति' कहा गया। यहाँ भी *'माया'* शब्दका अर्थ उसी प्रकार समझना चाहिये। प्रमाण, रामोत्तरतापिन्युपनिषद्। यथा—'**श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी। उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥ सा सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥**' (३-४) ठीक इसी अभिप्रायसे *'माया'* शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है। श्रीसीताजी *'माया'* नहीं हैं। उनको रामतापिनी आदि ग्रन्थोंमें चिद्रूपा लिखा है। यथा—'**सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवेत्। ······दिव्यालङ्कारस्त्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालङ्कृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति।**' (सीतोपनिषद्) '**न त्वां केचित् प्रजानते॥१०॥ ऋते मायां विशालाक्षीं।**' (वाल्मीकि० ७। ११०। १०) '**हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता**·········' (रामपूर्वतापिन्युपनिषद् ४। ९) वैदिक निघण्टुमें भी '**मायाज्ञानवयुनम्**' से मायाको ब्रह्मकी चिच्छक्ति प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्गोस्वामीजीने भी उनको श्रीरामजीसे अभिन्न अभेद वर्णन किया है। यथा—*'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥'* (१८) *'माया सब सियमाया माहूँ।'*, *'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।'* अन्य भाव लेनेसे पूर्वापर-विरोध होगा। —'**उद्भवस्थिति**·········' मं० श्लोक भी देखिये। सदाशिव-संहितामें भी ऐसा लिखा है—'**रामस्सीता जानकी रामचन्द्रः नाणुर्भेदो ह्येतयोरिति कश्चित्। संतो मत्वा तत्त्वमेतद्धि बुद्ध्वा पारं जाताः संसृतेर्मृत्युकालात्॥**' इस सिद्धान्तकी पुष्टता वनयात्राके समय चक्रवर्ती महाराजके वचनोंसे भी होती है। उन्होंने सुमन्तजीसे कहा है कि *'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥ तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी॥ एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ नाहिं त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भए बिधि बामा॥'* (२। ८२) यदि श्रीसीताजी ब्रह्म न होतीं तो उनके घरपर रहनेसे राजा क्योंकर जीवित रह सकते थे। राजाके ये वचन व्यर्थ हो जाते हैं।

२—पुनः, माया पाँच प्रकारकी है—अविद्या, विद्या, सन्धिनी, संदीपिनी और आह्लादिनी। जो जीवोंके हृदयमें नित्य अशुचि दुःख अनात्म वस्तुमें नित्य शुचि सुख आत्मबुद्धि करा देवे उसको 'अविद्या' कहते हैं। अज्ञानको विनाशकर जीव-परमात्माके यथार्थ ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली शक्तिको 'विद्या' कहते हैं। ज्ञान प्राप्त होनेपर जीव-ईश्वरकी सन्धिको अर्थात् अतिशय सान्निध्यको जनानेवाली शक्ति 'सन्धिनी' कही जाती है। जीवोंके हृदयमें परमात्माके साक्षात्कार संदीपन करनेवाली शक्तिको 'संदीपिनी' कहते हैं और ईश्वरसे अविनाभूत रहकर चेतनोंको ब्रह्मानन्द-प्रदातृ-सुखस्वरूपा चिन्मयी शक्तिको 'आह्लादिनी शक्ति' कहते हैं। वही आह्लादिनी शक्ति श्रीसीताजीको कहते हैं। मायाका अर्थ त्रिगुणात्मिका माया यहाँ नहीं है।

३—*'माया'* के अर्थ शक्ति, इच्छा और प्रेरणा भी हैं। उदाहरण—(क)*'रामजीकी माया, कहीं धूप कहीं छाया।'* (ख) *'अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥'* (ग)*'तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥'* (घ)*'बोले बिहँसि महेस तब हरि माया बल जानि जिय।'*

४—*'माया'* शब्द केवल पद्यमें 'कृपा, दया, अनुग्रह' के अर्थमें भी आता है। उदाहरण—(क)*'भलेहि आय अब माया कीजै। पहुनाई कहँ आयसु दीजै॥'* (ख)*'साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया॥'* (ग)*'डंड एक माया कर मोरे। जोगिनि होउँ चलौं सँग तोरे॥'*—(हिन्दी-शब्दसागर)

करुणासिन्धुजी आदि कई टीकाकारोंने यहाँ 'माया' का अर्थ 'कृपा, दया, अनुग्रह' भी लेकर यह भावार्थ कहे हैं—'मेरी शक्ति मेरी दयारूपा जगत्को उत्पन्न करनेवाली', 'मेरी तुमपर यह दया है' अर्थात् तुमने इनको वरमें नहीं माँगा, हम अपनी ओरसे इनका भी सुख तुमको देंगे।

प्रोफे० दीनजी इसी अर्थको यहाँ ठीक समझते हैं। मेदिनीकोशमें 'माया' के अर्थ ये मिलते हैं—'**स्यान्माया शाम्बरीबुद्ध्योः।**'

नोट—६ '**माया—भगवच्छक्तिः।**' जिस शक्तिके बलसे श्रीभगवान् '**बहु स्यां प्रजायेय**' इस अपने संकल्पके अनुसार एकदम नाना जगत्रूपी रूपोंको धारण करते हुए जगत्‌की सृष्टि करनेवाले कहलाते हैं, उसीका नाम माया है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों मूर्तियोंके अपने-अपने कार्यक्षेत्रमें जो लीलाएँ हुआ करती हैं उन सबकी प्रेरणा करनेवाली और उनको भलीभाँति सम्पन्न करनेवाली जगन्मातारूपी परमेश्वरी भगवती महामाया भगवच्छक्ति परमाशक्ति श्रीसीताजी हैं।

भगवच्छक्तिके चार अर्थ होते हैं—१ '**भगवतः शक्तिः भगवच्छक्तिः**' षष्ठीतत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे भगवती भगवान्‌की शक्ति है, वही ईश्वरकी प्रेरणा करनेवाली और उसके सब काम करनेवाली है। २—'**भगवति शक्तिः भगवच्छक्तिः**' सप्तमी तत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे भगवान्‌में जो शक्ति है उसीका नाम देवी है और उसकी उपासनाके बिना भगवान्‌की उपासना नहीं हो सकती। ३—'**भगवती चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्तिः**' इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे शक्तिरूपिणी देवी भगवती है। अर्थात् षड्‌गुणैश्वर्यादिसे विभूषित है और उसकी उपासनासे उपासकोंको सब प्रकारकी ऐश्वर्यादि विभूतियाँ अनायास मिल सकती हैं। ४—'**भगवांश्चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्तिः**' इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे देवी और भगवान्‌में भेद नहीं है, बल्कि ऐक्य है।

नोट—७ '*सोउ अवतरिहि*'—अपने लिये '*होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे*' कहा और 'आदिशक्ति' के लिये केवल '*अवतरिहि*' कहा। भाव यह कि वे जगत्‌में दूसरी जगह अवतीर्ण होंगी, तुम्हारे यहाँ नहीं।

नोट—८ इस प्रकरणमें श्रीरामजीका ही बोलना गोस्वामीजीके शब्दोंसे पाया जाता है, श्रीसीताजी चुप ही रहीं। महानुभावोंने इसके कारण ये लिखे हैं—

(१)—दोनोंमें अभेद है—'***गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।***' इस 'निर्भिन्नता' के भावसे केवल श्रीरामजी ही बोले। वा,

(२)—लोमशरामायण और पद्मपुराणकी सम्मति लेकर विश्रामसागरमें लिखा है कि एक विप्र हरिदेव और उनकी पत्नीने भी उसी समय इस अभिलाषासे तपस्या की थी कि आदिशक्ति हमारी सुता हों और परब्रह्म राम हमारे जामाता हों। यथा—'***तहाँ बिप्र हरिदेव प्रबीना। कनकलता युत नारि नबीना॥ करहिं तपस्या भगवत हेता। असन बसन तजि अवध निकेता॥***' इत्यादि। और श्रीयुगल सरकारके प्रकट होनेपर उन्होंने इस प्रकार वर माँगा कि '***इन्ह समान कन्या मिलै तुम्ह समान जामात।***' वहाँ भी श्रीकिशोरीजीसे वर नहीं माँगा गया। वैसे ही यहाँ जब श्रीसीताजीसे वर माँगा ही नहीं तब वे क्यों बोलतीं ? विश्रामसागरमें मनुजीने इस प्रकार वरदान माँगा है—'***बोले महिपालक तुम सम बालक इन सम चहों पतोहू। बिषइक इव जानों ईस न मानों देव यहै करि छोहू॥***' (मा० त० वि०) जैसे यहाँ मनुजीसे कहा है कि जब तुम अवधभुआल होगे तब मैं तुम्हारा पुत्र हूँगा वैसे ही विप्र और विप्रपत्नीको यह आज्ञा हुई थी कि '***त्रेता जनक होब तुम्ह सोई। नाम सुनयना इन्ह कर होई॥ तब तव कन्या सक्ति हमारी। ह्वै हैं अंसन संयुत चारी॥ मैं जामात मिलब तहँ जाना। अस कहि भे प्रभु अंतरधाना॥***' (मा० त० वि०) बैजनाथजीके मतसे विप्रका नाम वामवर्त्ती और विप्रपत्नीका नाम सुमति था।

(३)—नृपने पुत्र होनेका वर माँगा तब श्रीसीताजी अपनेको पुत्रवधू जानकर सकुचकर चुप हो रहीं (मानसमयंक, मा० त० वि०)।

(४)—भुवनेश्वरसंहितामें पाया जाता है कि जनकजीको आदिशक्तिने वरदान दिया; क्योंकि उनके जीमें यह लालसा थी कि वे हमारी कन्या हों और यहाँ पुत्रकी चाह है अतएव प्रभु बोले; इनके बोलनेका प्रयोजन न था।

(५)—मानसी वन्दनपाठकजी कहते हैं कि 'ग्रन्थकारने पूर्वहीसे केवल श्रीरामोपासना गायी है—'***बासुदेव पदपंकरुह दंपति मन अति लाग***', '***पुनि हरि हेतु करन तप लागे***' इत्यादि। मनुमहाराज श्रीजानकीजीको नहीं जानते। जानते तो श्रीराघव ऐसा न कहते कि '***आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥***' इस वचनसे इनके स्वरूपको राघवने जनाया। जो कहो कि केवल राघवकी उपासना क्यों

गायी तो ग्रन्थकारका पूर्वसंकल्प है—*'जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥'* अतएव श्रीरामजन्मके हेतुमें श्रीमनुमहाराज हैं और श्रीजानकीजी तो विदेह महाराजके सुकृत भागमें हैं—*'जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही॥'* इस विभागसे मनुमहाराजके अंशमें केवल राघव ही हैं इससे दोनों सरकारके वात्सल्यरसके भोक्ता दोनों महाराज हैं। अब यह प्रश्न होता है कि 'तो फिर उभय मूर्ति क्यों प्रकट हुई?' इसका उत्तर यह है कि 'इनका संग-त्याग कभी नहीं होता।' दोनों मिलकर अखण्ड ब्रह्म हैं।'

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥५॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना॥६॥
दंपति उर धरि भगत* कृपाला। तेहि आस्रम निवसे कछु काला॥७॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावति बासा॥८॥
दो०—यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही† बृषकेतु।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि राम जनम कर हेतु॥१५२॥

शब्दार्थ—**निवसे**=निवास किया। निवाससे निवसना क्रिया बनायी है।

अर्थ—मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। 'हमारी प्रतिज्ञा सत्य है! सत्य है!! सत्य है!!!'॥५॥ कृपानिधान भगवान् बारंबार ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये॥६॥ स्त्री-पुरुष (राजा-रानी) दोनों हृदयमें भक्तोंपर कृपा करनेवाले प्रभुको धारणकर उसी आश्रममें कुछ काल बसे॥७॥ फिर समय पाकर बिना परिश्रम शरीरको छोड़कर इन्द्रलोकमें जा बसे॥८॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—) हे भरद्वाज! धर्मध्वज श्रीशिवजीने यह अत्यन्त पवित्र इतिहास उमाजीसे कहा। अब और भी रामजन्मका हेतु सुनो॥१५२॥

नोट—१ *'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा'* इति। राजाके *'पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी'* का उत्तर यहाँ है। *'सत्य सत्य पन सत्य हमारा'* इन वचनोंका हेतु अगली चौपाईके 'कृपानिधान' शब्दमें है। अर्थात् कृपा करके बारंबार 'सत्य' 'सत्य' कहा। पूर्ण विश्वास करा देनेके लिये तीन बार कहा। पूर्व भी *'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई'* में लिखा गया है। लोकरीति है कि किसी बातकी प्रतिज्ञा की जाती है तो उसे तीन बार दुहराते हैं। इसीको 'त्रिवाचा' और '**त्रिसत्यम्**' कहते हैं। किसी टीकाकारका मत है कि अपने अवतार, अंशावतार और आदिशक्तिके अवतार अर्थात् तीन अवतारोंकी प्रतिज्ञाके विचारसे तीन बार कहा और किसीका मत है कि एक बार राजाके और दूसरी बार रानीके विचारसे कहा और तीसरी बार सत्य अपने पनको कहा अथवा, तीन बारसे त्रिकालमें सत्य जनाया। परंतु अगले चरणमें *'पुनि पुनि अस कहि'* से स्पष्ट है कि तीन ही बार नहीं कहा, वरंच *'सत्य सत्य पन सत्य हमारा'* ऐसा बारंबार कहा है। दोनोंके संतोषार्थ बारंबार कहा।

नोट २—इस प्रसङ्गको जिस शब्दसे उठाया था उसीपर समाप्त किया है। *'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥'* उपक्रम है और *'पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना॥'* उपसंहार है। 'कृपा' हीसे इस प्रसङ्गको संपुटित किया। भाव कि भक्तपर कृपा करके उसके लिये प्रकट

---

* भगति—भा० दा०, ना० प्र०, गौड़जी। भगत—१६६१, १७०४, रा० प०, मा० त० वि०, पं०। 'भगति कृपाला' का अर्थ होगा 'कृपालकी भक्ति'। इसके अनुसार भाव यह है कि 'दम्पतिने अगुण अखण्डका ज्ञान और तपादि कर्मोंको छोड़ दिया और हृदयमें भक्ति धारण कर ली, क्योंकि कर्म और ज्ञानका फल हरिभक्ति है, यथा—'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना।—जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥' (७। १२६) और यह इनको अब प्राप्त ही हो गयी है (प्र० सं०)। † कहा—पाठान्तर।

हुए और यहाँ कृपापूर्वक उसको दिलासा देकर अन्तर्धान हुए। ☞इसके निरन्तर पाठसे कृपा होगी।

नोट—३ *'उर धरि भगत……तेहि आश्रम निवसे'* इति। (क) इस समय अगुण अखण्ड अनादि ब्रह्मने अपने इन अनन्य भक्तोंपर अत्यन्त कृपा की है, दर्शन दिये, नये-नये मनोरथ पूर्ण किये और अपनी ओरसे कृपा करके जो नहीं माँगा वह भी दिया। अतः 'भगत कृपाल' विशेषण दिया। जिन्होंने ऐसी असीम कृपा की उन्हींको हृदयमें धारण किया। इससे जनाया कि दर्शनके पश्चात् भी राजा-रानी दोनों अनन्यतापूर्वक उन्हीं प्रभुकी भक्तिमें तत्पर रहे। भक्त तो प्रथम ही थे, यथा—*'गति अनन्य तापस नृपरानी।'* (१४५। ५) अतः *'भगत कृपाला'* पाठ विशेष उत्तम है। (ख) यहाँ दिखाते हैं कि राजा-रानीका वैराग्य आदिसे अन्ततक एकरस रहा। उनके मनोरथ सिद्ध हुए फिर भी वे घर लौटकर न गये।

नोट—४ *'समय पाइ तनु तजि अनयासा'* इति।—सबके मृत्युका समय नियत है। प्रारब्ध-भोग समाप्त होनेपर ही शरीर छूटता है; अतएव *'समय पाइ'* कहा। *'अनयासा'* का भाव यह कि *'जनमत मरत दुसह दुख होई॥'* वह दुःख इन भक्तोंको नहीं हुआ। 'अनायास', यथा—*'जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान।'* (७। १०९) *'सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।'* (कि०) इसी प्रकार इन दोनोंने एक साथ ही शरीर त्याग दिये।

नोट—५ 'राम-अवतार' प्रसंग यहाँतक कहकर छोड़ दिया। अब आगे रावणका अवतार कहकर फिर दोनों प्रसङ्गोंको मिलावेंगे, तब इस (रामावतार) प्रसङ्गको फिर कहेंगे। यथा—*'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा।'* (१८८। ६) यह रामावतारका प्रसङ्ग तो हुआ; पर *'असुर मारि थापहिं सुरन्ह……।'* (१२१) की पूर्तिके लिये आगेका प्रसङ्ग कहते हैं।

स्वायंभुवमनु-शतरूपा और श्रीनारद-प्रसङ्गका मिलान

श्रीमनु-शतरूपाजी	श्रीनारदजी (अरण्यकाण्ड)
परे दंड इव गहि पद पानी। तुरत उठाये करुनापुंजा।	१ *करत दंडवत लिये उठाई राखे बहुत बार उर लाई॥'* (३। ४१। १०)
बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जान।	२ *नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि।'* (३। ४१)
सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले मृदुबानी॥	३ *नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥'* (३। ४१)
दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।	४ *सुनहु उदार परम रघुनायक।* (३। ४२)
सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।	५ *सुंदर अगम सुगम बरदायक।* (३। ४२)
एक लालसा बड़ि उर माहीं।	६ *देहु एक बर माँगउँ स्वामी।* (३। ४२)
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी।	७ *जद्यपि जानत अंतरजामी॥* (३। ४२)
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। *मोरे नहि अदेय कछु तोही॥*	८ *जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिश्वास तजहु जनि भोरे॥* (३। ४२)
प्रभु परंतु सुठि होत ढिठाई।	९ *अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई॥* (३। ४२)
एवमस्तु करुनानिधि बोले।	१० *एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।* (३। ४२)
हरष बिबस तन दसा भुलानी।	११ *मुनि तन पुलक नयन भरि आये।* (३। ४५)
परे दंड इव गहि पद पानी॥	१२ *नारद सुनत पदपंकज गहे।* (३। ४६)
चाहउँ तुम्हहि समान सुत	१३ *राकारजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम।…… बसहु……उर ब्योम।* (३। ४२)

नोट—६ *'यह इतिहास पुनीत अति……'* इति। ☞(क) सब कल्पोंमें रामजन्मके दो-दो हेतु लिखे। एक तो रावणका जन्म, दूसरा कश्यप-अदितिका तप। रावण-जन्म विस्तारसे लिखा और कश्यप-अदितिका तप संक्षेपसे कहा, यथा—*'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा॥'* *'कस्यप अदिति*